ग्रन्थ संख्या—९६

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भण्डार

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

'९९ वि०

मूल्य १॥)

मुद्रक

कृष्णाराम महता

लीडर प्रेस, प्रयाग।

निवेदन

'मिट्टी और फूल' में पिछले दो वर्षों के भीतर लिखी गई मेरी अधिकांश स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं। कुछ सप्ताह पूर्व प्रकाशित हुई पुस्तिका 'कामिनी', जिसे मैंने एक 'कथागीत' कहा है, वास्तव में 'मिट्टी और फूल' की ही एक अंशवत् कणिका है। अभिव्यक्ति के आधार पर भिन्न होने के कारण ही वह इस संग्रह का अंग नहीं बन सकी।

'मिट्टी और फूल' में मेरे अन्तर्संघर्ष को ही प्रधानता मिली है। इसके रचना काल में बुद्धि और भावुकता के बीच मेरे मन में जो द्वन्द्वयुद्ध छिड़ा रहा है, 'पलाश-वन' में उसका पूर्वाभास मेरे पाठकों को मिल चुका है। बाहर और भीतर के मेरे विश्व की बढ़ती हुई सीमाओं ने उस संघर्ष को अधिक उग्र और व्यापक बना दिया है। इस बीच में मेरा कारावास और आत्मीय जन से निर्वासन—इस वस्तुस्थिति को देश और विदेश की भीषण हलचल ने मेरे लिए विशेष रूप से प्रभावपूर्ण बना दिया। और इसी वस्तुस्थिति से उत्पन्न मेरी मनोदशा, मन की पूर्व अवस्थाओं के आधार पर, 'मिट्टी और फूल' की रचनाओं में मुखरित हुई है।

मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ। बालू की भीत खड़ी करके हवाई क़िले बनाने वाले अर्धशिक्षित मध्यवर्ग का एक सामान्य युवक है भी कितना दुर्बल प्राणी! मुझे इसका आभास मिलता है जब मैं अपनी और अपने समसामयिक अन्य नये कवियों की कृतियों की ओर देखता हूँ। इन नए कवियों ने अपनी सरल भाषा, स्पष्ट शैली और यथार्थ-ग्राहकता के द्वारा हिन्दी कविता की परम्परा को आगे बढ़ाया है, किन्तु भय होता है कहीं इस देन का महत्व हमारी विकृत अहम्मन्यता, छिछलेपन और अज्ञान-जनित बवंडरवाद में तिनके की तरह शून्य में न उड़ जाय।

हममें से अधिकांश कवि प्रगतिवादी होने का दावा करते हैं और मुझ जैसे कुछ, आलोचकों के ऐसे कृपाभाजन भी हैं, जिन्हें प्रगतिवादी कवि की पदवी अनायास ही मिल गई है। न्याय के पक्षपातियों ने वास्तविक

प्रगतिशील कवियों की तुलना में मुझे 'फ़ैशनेबिल प्रगतिवादी' सिद्ध न कर दिया होता तो संभव है मैं सचमुच प्रगतिशील कवि होने के भुलावे में पड़ जाता !

मैं कह चुका हूँ कि मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ। आशा है मेरे पाठक और विद्वान आलोचक मेरे काव्य को इसी रूप में ग्रहण करेंगे।

प्रगतिशील कौन है, इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर तो कोई अधिकारी प्रगतिवादी ही दे सकता है। अनेक व्यक्ति अपनी अपनी सूझ के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देते भी रहे हैं। मैं इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देता, यदि मेरी कृतियों में सामर्थ्य होती कि वह प्रगतिशीलता की जीती जागती मिसालें बन सकतीं। फिर भी, संक्षेप में, इस सम्बन्ध में दो चार पंक्तियाँ यहाँ लिख जाऊँ तो पाठक मुझे क्षमा करेंगे—मुझे आशा है।

वह कवि प्रगतिशीलता के उतना ही निकट समझा जायगा जो वस्तुस्थिति और उसकी छाया में अकुलानेवाली अपनी इकाई की सक्रिय सामर्थ्य और सीमाओं, तथा वस्तुस्थिति और इकाई के घात-प्रतिघातपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जनित गतिशीलता के नियम को जितना ही अधिक समझता और व्यवहारिक जीवन में ग्रहण करता है। यह समझदारी और तथ्यग्राहकता प्रगतिशीलता की पहली सीढ़ी है। अपनी सक्रिय शक्ति से प्रतिकूल वस्तुस्थिति को बदलने, अर्थात् उसे सामाजिक प्रगति के अधिक अनुकूल बनाने की लगन, और जर्जर संस्कारों से अपनी मुक्ति को नव निर्माण में सार्थक बनाने से ही कवि प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर हो सकता है।

हममें से अधिकांश प्रगतिशील नहीं हैं, किन्तु यदि हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है या प्रगतिवाद की ओर हमारी सच्ची सहानुभूति और सद्भावनायें प्रवाहित हुई हैं, तो भी प्रगतिवाद की चर्चा सार्थक है।

उपर्युक्त पंक्तियों की भूमिका में मैं प्रस्तुत संग्रह को पाठकों के सामने रख रहा हूँ।

काशी।
१ दिसम्बर, '४२

—नरेन्द्र

आदरणीय

बाबू मैथिलीशरण गुप्त को

सादर समर्पित

क्रम

कविता		पृष्ठ

	कविता	पृष्ठ

मिट्टी और फूल

मिट्टी और फूल

(१)

वह कहती, 'हैं तृण-तरु-प्राणी
जितने, मेरे बेटा-बेटी!'
ऊपर नीला आकाश और
नीचे सोना-माँटी लेटी!

'मैं सब कुछ सहती रहती हूँ,
हो धूप-ताप वर्षा-पाला,
पर मेरे भीतर छिपी हुई
बिन बुझी एक भीषण ज्वाला!

मैं मिट्टी हूँ, मैं सब कुछ
सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी,
हिम-आतप में गल और सूख
पर नहीं आज तक गली-सड़ी!

मैं मिट्टी हूँ, मेरे भीतर
सोना-रूपा, नौरतन भरे!
मैं सूखी हूँ पर मुझसे ही
फल-फूल और बन-बाग़ हरे!

मिट्टी और फूल

मैं पाँवों के नीचे, मैं ही हूँ
पर पर्वत पर की चोटी !
मेरी छाती पर शत पर्वत ,
मैं मिट्टी हूँ सब से छोटी !

मैं मिट्टी हूँ, अंधी मिट्टी ,
पर मुकुल-फूल मेरी आँखें !
मैं मिट्टी हूँ—जड़ मिट्टी हूँ ,
पर पत्रों में मेरी पाँखें !

मैं मिट्टी हूँ—मैं वर्णहीन ,
पर निकले मुझसे वर्ण सकल !
मेरे रस से प्रसून रंजित—
रंजित नव अंकुर, पल्लव-दल !

मैं गंधहीन, मुझसे करते
फल फूल मूल पर गंध ग्रहण ;
जल वायु व्योम जो गंध रहित—
करते वे किसकी गंध वहन ?

मैं शव की शय्या, मुझसे ही
उगते हैं नव जीवन-अंकुर ,
नभ में कैसे खेती करता
सब जीवों में जो जीव चतुर ?

आती है मेरे पास खगी
दाने दाने को चोंच खोल ,
तिन दबा चटुल उड़ जाती वह
मेरे पेड़ों पर जो अबोल !

मुझसे बनते हैं महल और
ये खड़ी मुझी पर मीनारें ,
मैं करवट लेती---ढह जाते हैं
दुर्ग, चीन की दीवारें !

हाँ, बुद्धिजीव, आदर्शमुग्ध
मानव भी मेरी ही कृति है ,
पैग़म्बर और सिकन्दर का
मुझसे अथ है, मुझमें इति है !

मेरे कन-कन पर उडुगन भी
वारा करते हिमकन-मोती ,
जिनकी सतरंगी गोदी में
सिर धर सूरजकिरणें सोतीं !

मैं मर्त्यलोक की मिट्टी हूँ ,
मैं सूर्यलोक का एक अंश ;
आती हैं जिस घर से किरणें
है मेरा भी तो वही वंश ! '

(२)

इतने में आया हँस वसन्त ,
मिट्टी को चूमा—खिला फूल !
थल का बुलबुला फूल जैसे
हँसता समीर में झूल झूल !

जिस मिट्टी से जीवन पाया ,
वह उस मिट्टी को गया भूल ,
थल का बुलबुला फूल जैसे
हँसता समीर में झूल झूल !

देखा जो तारों को, सोचा—
'मैं भी उड़ जाऊँ बहुत दूर ,
है जहाँ जल रहा नीलम के
मंदिर में वह कर्पूर चूर ! '

तितली को देखा और कहा—
'मुझको दे दो दो चटुल पंख' ;
मौना आई तो उससे भी
उड़ने को माँगे चटुल पंख !

फिर आ निकली बन की चिड़िया
तिनके चुगने, चुग्गा लेने ,

मिट्टी और फूल

'ले चलो मुझे भी उड़ा कहीं '—
यों फूल लगा उससे कहने !

चिड़िया की चोंच वसन्ती थी ,
था फूल गुलाबी रंगभरा ,
बस पल में दीखा चिड़िया के
मुँह में वह डंठल हरा-हरा !

ऊपर था नीला आसमान ,
दीखी नीचे सोना धरती ,
थल का बुलबुला फूल, टूटा !—
पर मिट्टी इसमें क्या करती ?

आ गिरा धरा पर फूल, मिला
मिट्टी में, छिन में हुआ धूल !
जिस मिट्टी से जीवन पाया ,
था उस मिट्टी को गया भूल !

मिट्टी कहती—'मैं सब कुछ
सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी ,
हिम-आतप में गल और सूख
पर नहीं आज तक गली-सड़ी !'

इच्छा की कली

कुचल दूँ पाँवों तले क्या मधुर इच्छा की कली ?

रगें उसकी, रक्त मेरा
कली जिससे लाल है ;
कली खिलती, सूखती—
मेरे हृदय की डाल है ;

कौन जाने और भी परिणति बुरी हो या भली ?

कामना करना सहज यों तो
हृदय का धर्म है ,
और उसके हित भटकना
इन्द्रियों का कर्म है ,

पर न क्या इस कामना ने बुद्धि पहले भी छली ?

तुच्छ है यह भावना
इच्छा दिया है नाम जिसको ;
साधना ही श्रेय, अब तक
शुभ हुआ है प्रेय किसको ?

कहाँ पारस, छू जिसे लोहा बने काञ्चन-डली ?

अतः मन की मुरलिके ,
मत गान गा तू कामना का !
इष्ट है तेरे लिये—साधन
बने तू साधना का !

नहीं जल से, जल अनल से द्रवित हो प्रतिमा ढली !

गीत

बाजे—

बाजे मंजुल नूपुर !

गूँजा

सूना मन - अन्तःपुर !

बाजे - बाजे मंजुल नूपुर !

खुला युगों से बन्द द्वार फिर,

छवि जो केवल रही स्वप्न चिर,

मंद चरण उतरी मन - मंदिर !

जागे—

प्रतनु इन्दु प्रेमांकुर !

बाजे - बाजे मंजुल नूपुर !

स्मिति ज्यों जपाकुसुम की कलियाँ,

विद्युत् - चुम्बित पुलकावलियाँ,

निखिल ज्योति पी रहीं पुतलियाँ !

लहरें

चरण चूमने आतुर !

बाजे - बाजे मंजुल नूपुर !

गीत

कौन आज मेरे मन रमता ?—
पलक मुँदे, खोई चेतनता !
तार तार प्राणों का तनता !

मेरे

रोम - रंध्र वंशी - सुर !
बाजे - बाजे मंजुल नूपुर !
यह केवल ध्वनि नहीं श्रवन को !
मुँदे पलक, खुल रहे नयन दो !
कैसे ग्रहण करूँ इस धन को—

जर्जर

झोली - सा मेरा उर !
बाजे - बाजे मंजुल नूपुर !

स्वप्न-भंग

वे श्याम बरुनियाँ
माया - जाल बिछाती हैं !
इच्छायें मन की
अश्रु - बूँद बन जाती हैं !

उन पलकों की पंखुरियों पर
मैं चुम्बन बन खो जाता हूँ,
घनश्याम पुतलियों की रजनी में
सपना बन सो जाता हूँ,
बस साँसें आती जाती हैं !

सपने की मेरी बातों का
मत बुरा मानना, पाषाणी !
हँसती हो ? हाँ, हँसती जाओ
तुम देख हमारी नादानी !—
पर मनुहारें सकुचाती हैं !

तोड़ो मत मेरा दिवा - स्वप्न,
फेंको मत मेरा हृदय रत्न,
मत समझो उसका मोल नहीं

मिल जाय स्नेह जो बिना यत्न !
सीपी मोती भर लाती हैं !

लो, भंग हो रहा इन्द्रधनुष,
छिनती जाती अंचल-छाया !
बीता रे, जो मधुवात-सदृश
पल, उन अलकों में लहराया !
काली छायायें छाती हैं !

झुक रही रात, पंछी घायल,
है कोई अपना नीड़ नहीं !
मन भी भर आता नहीं, मिले
जो बूँद, बूँद दो नीर कहीं,
सूखे दृग-नद बरसाती हैं !

विदा-गीत

फिर भी न मुझे देना बिसार !

गिर जाऊँ आँखों से यदि मैं अस्ताचलगामी रवि-समान,
मूर्छित हो सान्ध्य कमल-सा जब आँसू जल का जलजात-गान,
पतझर की पीली पत्ती-सी प्रतिध्वनि न साथ ले मधु-बयार,

फिर भी न मुझे देना बिसार !

जब अर्धरात्रि की गूँज, चाँदनी की माया, दें मुझे भुला ;
तारे न दिलावें याद तुम्हें मेरी, न सुबह का फ़लक़ धुला,
मिल जायँ धूल में फूल सुप्त सुधि-दीपक के झर निराधार,

फिर भी न मुझे देना बिसार !

जब अंतिम बार उमड़ उर में कुहरे-सा कुछ हो जाय लीन,
झर अंतिम आँसू सूख चुकें जब——पथ में जैसे ओस दीन,
हो नया दिवस, हो जाय निशा-सी मेरी वीणा छिन्नतार–

फिर भी न मुझे देना बिसार !

साँझ के बाद रात

बुझ-सा गया सूर्य,
साँझ की उदासी ।

शीत वायु
कहती—अब दिवस की शेष आयु ।
दिवस की शेष आयु,
साँझ की उदासी ।

दिन भर ही व्योम घिरा घिरा रहा,
अभी भी घिरा है जो बरस कर कई बार ।
घिर रहा अंधकार,
घिर रहा अंधकार,
साँझ की उदासी ।

स्वजनों से दूर,
दूर निज प्रियजन से
बंद यहाँ—
मंद मंद जलता मैं चिन्तन से ।
आते जो जो विचार
हो जाते क्षार क्षार—

जल जल कर क्षण भर को पावक के कन-से ।

पंख लगा अनायास

आते फिर स्वप्न पास,

घर में घिर अपनों से बैठता प्रवासी ।

पल-छिन के सपने ये ।

अपने भी हुए दूर,

    सपने थे जिनके ये ।

स्वप्न-चीर तार तार,

जीवन-क्षण हुए भार,

झाँक झाँक खिड़की से

    देख देख तिमिर तोम,

झाँक झाँक खिड़की से

    देख घिरा घिरा व्योम,

बंद यहाँ

जलता मैं मंद मंद—आशा में—

होगी ही (कब होगी ?) दिवस की निकासी ।

मध्यनिशा का गीत

तुम उसे उर से लगा स्वर साधतीं--
उठते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

मूक होती कथा मेरी,
शून्य होती व्यथा मेरी,
चीर निशि-निस्तब्धता जो
तीर-से आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

चाँद भी पिछले पहर का
मुग्ध होजाता, ठहरता !
क्या विदा-बेला न टलती
यदि कहीं आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के ?

बनी रहती चाँदनी भी,
गगन की हीरक-कनी भी,
ओस बन आती अवनि पर
चाँदनी, सुनकर सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

रुद्ध प्राणों को रुलाते,
आज बाहर खींच लाते
निमिष में अंगार-उर-सा
सूर्य, यदि आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

तुम उसे उर से लगा स्वर—
साधतीं, उठते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

निर्वेद

मन ! अब विजन बन में चलो,
बनफूल बन फूलो—फलो !

तुम चंद्रिका की बूँद-से सुकुमार मरकत-पत्र पर
शोभित रहो जब तक रहो, हिमहास बन तन-वृन्त पर,

अब अश्रु से मुसकान बनने
मन ! विजन बन में चलो !

हर साँस में सुख-शांति की मधुगंध हो, मधुपी न हो ;
तुम स्वयं अपने मधु बनो, मधुपात्र, मधुपायी रहो !

जो मृषा उसकी क्यों तृषा ?
मन, अब विजन बन में चलो !

अब जो गले का हार है कल खटकता बन शूल है !
कब तक समय अनुकूल है ? कल फूल, अब वह धूल है !

यह नियम है इस वाटिका का,
मन ! विजन बन में चलो !

कोई न देखेगा तुम्हें, कोई चुनेगा भी नहीं ;
पर दूसरे की दृष्टि से आँकती सही क़ीमत कहीं ?

यदि भेद अपना जानना हो,
मन ! विजन वन में चलो !

जब तक खिलो खिलना, सहज फिर विहँस झर जाना !
चलो, मत चाहो किसी का विदा देते नयन भर लाना !

बस एक बार निहार उपवन,
मन ! विजन बन में चलो !

बन फूल बन फूलो फलो,
मन ! अब विजन बन में चलो !

मधुकर-गीत

है फूल फूल में स्नेह-सुधा,
मत माँग—कली मुरझाएगी!

कुछ ऐसी तेरी भाग्य-रेख
मन-मधुकर तेरी चाह देख
इस उपवन की हर एक कली
मुसकाएगी, मुरझाएगी!

है फूल फूल में स्नेह-सुधा,
मत माँग—कली मुरझाएगी!

है शाप कि सुन तेरा गुंजन
जो मुग्धा खोलेगी लोचन,
वह पंखड़ियों के पलक-पाँवड़े
बिछा स्वयम् झर जाएगी!

है फूल फूल में स्नेह-सुधा,
मत माँग—कली मुरझाएगी!

है झूठ कि रीता है उपवन,
है झूठ कि सूखा है मधुबन,
पर तू मत देख उधर——पल में
पतझर की आँधी आएगी!

है फूल फूल में स्नेह-सुधा,
मत माँग——कली मुरझाएगी!

साँझ की बात

साँझ आती,

साँझ की हिम-वात आती

और कहती—

'लौट चल,

घर लौट चल, पागल प्रवासी!'

कोट का कॉलर उठा मैं

बैठता कुछ और जम कर,

और थम कर

फिर वही हिम-वायु आती,

गले पर सुकुमार शीतल कर छुलाती,

चिबुक छूती,

बाँह गहती

और कहती—

'लौट चल,

घर लौट चल, पागल प्रवासी!'

मैं तुम्हारे संग चलता

वायु! मेरे भी

तुम्हारी ही तरह जो पंख होते!

पंख होते तो तुम्हारे संग चलता—
क्यों यहाँ निरुपाय मेरे श्वास
जीवन-भार ढोते !

पहुँच घर चुपचाप,
धीरे पाँव धरता—पास जाता
और पीछे से सभी को चपल सीरे कर लगाता
चिबुक छूता,
बाँह गहता
और कहता—
'लौट आया,
लौट आया घर प्रवासी !'

लुब्धक

वह नीलम के नग-सा लुब्धक
जगमगा रहा नभ में झलमल !
वह मेरी आँखों-सा छलछल,
मेरे आकुल मन-सा चंचल !
किसकी सुधि दमक रही ? लुब्धक
जगमगा रहा नभ में झलमल !

घनश्याम यवनिका नित्य वही,
है वही शून्य नभ रंगस्थल,
है खेल वही आखेट, वही
शर, वही भीत मृग—शिर केवल !
नाटक के नायक-सा लुब्धक
जगमगा रहा नभ में झलमल !

वह तीन गाँठ का उसका शर—
जो शर सब दिन जाता निष्फल ,
ऐसा ही मन का इच्छा-शर,
है लक्ष्य बनाया छायाछल !
वह नभ का आखेटी लुब्धक,
जगमगा रहा नभ में झलमल !

ली दीर्घ श्वास सन्नाटे ने—
जैसे वह करवट रहा बदल ;
यह मध्यनिशा का प्रहर शून्य—
कह काँप उठा पल भर पीपल !
आगया ठीक सिर पर लुब्धक,
जगमगा रहा नभ में झलमल !

अब सिरा गई है शीत रात,
डरते डरते दिन रहा निकल !
प्राची के ठिठुरे कोने में
पौ फटी—खुला आरक्त पटल !
खो गया नील नग-सा लुब्धक,
जगमगा रहा था जो झलमल !

खुला दिन

कल बूँदा-बाँदी से भीगी
सोंधी सुगंध वाली धरती मेरे नीचे,
ऊपर सुकुमार आरियों के सौ चँवर डुलाता नीम
और मैं लेटा हूँ आँखें मीचे !

चह चह करती चिड़िया कहती—
'मुझको देखो, देखो मुझको',
मैं आँख खोल देखता उसे, कहता हँस कर—
'देखूँ नीला आकाश या कि देखूँ तुझको ?'

मैं लेटा हूँ तरु के नीचे,
छन छन कर आती धूप—धूप नीले नभ की,
मँडराती नभ में चील एक—बस एक चील,
चक्कर पर चक्कर काट रही चकराई-सी,
जो पा न छाह नीले नभ की !

हम सबके ऊपर सूर्य
रजत तारों से बाँधे है जग को,
मैं भी बन्दी,
मैं सोच रहा हूँ—
यह सुनील आकाश आज यदि और कहीं
तो दिखलाए कोई मुझको !

कौन है ?

कौन है ?
वह कौन है ?
है बसी हर साँस में जो,
आस में जो
और मन की फाँस में जो,
मधुर आकर्षणमयी
विभ्रममयी वह कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

हँस रही हर फूल में जो,
शूल में जो,
ओस-आँसू धूल में जो,
अश्रु औ मुसकान के
उपमान-सी वह कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

मुग्ध नयनों की मनी जो,
छवि - कनी जो,
मधुरतम प्रतिमा बनी जो,
मोह-माया से बनी
वह कनक-काया कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

अर्घ्य कंपित अश्रुजल में,
उर-अनल में
धूप—प्रस्तुत चरणतल में;
जल - अनल से
पूजती है प्रीति जिसको, कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

जो बनी विश्वास मन में,
दीप्ति तन में ;
बन दुसह संदेह क्षण में
जो लगाती आग
वह अनुराग वाली कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

प्रेम बिन विश्वास रोता,
धैर्य खोता,
बैठ मन आँसू पिरोता ;
कामना आशारहित—
संकेत करती कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

पलक मुँदते, ज्योति बुझती ;
साँस रुकती,
किन्तु फिर विद्युत् चमकती ;
शून्य नभ-सा विधुर उर
लीलामयी वह कौन है ?
कौन है ?
वह कौन है ?

चाँदनी

आज इतनी दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

वह तुम्हारा देश शशि, वह है न क्या रवि का मुकुर ही ?
शशि-सदृश आतुर, मुकुर जग का न क्या कविसुलभ उर भी ?
सुलगता शीतल अनल से, शून्य के शशि-सा विधुर भी !

इसलिए आओ हृदय में, दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

मैं नहीं शशि, दूर है शशि, व्यर्थ मन को शशि बताता !
कहाँ मैं वंचित सुधा से, कहाँ वह शशि—घर सुधा का !
धरा पर पड़ते न उसके पाँव—शशि ? मैं भूलता था !

तुम धरा पर उतर कर भी दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो, पर क्रूर हो, क्यों, चाँदनी ?

सुधा मुझसे दूर है, हे चाँदनी, पर मन मधुर है ;
शशि नहीं हूँ किन्तु फिर भी हृदय मेरा भी मुकुर है—
मुकुर भी ऐसा कि अतिशय चूर्ण—वह कविसुलभ उर है !

झाँक देखो रूप रंजित दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो, पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

तुम महीने में कभी दिन चार को आतीं, न सब दिन ;
रहीं रातों दूर औ रीते रहे मेरे तृषित छिन—
मैं यहाँ बेबस खड़ा इन सीखचों को हूँ रहा गिन !

पास तो आओ, बताओ दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

चाँदनी ! सुन लो तुम्ही सी है हमारी चाँदनी भी !
दूर भी है, सुंदरी भी, क्रूर है वह चाँदनी भी !
तुम हृदय में पैठ पाओ, दिखाऊँ वह चाँदनी भी !

पास है वह दूर से भी, दूर हो क्यों, चाँदनी ?
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

अनुनय

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
प्राण जर्जर तार, लें कैसे प्रहार सहार ?
सोचते होगे कि निकलेगी नई झंकार !—
यह भूल है मेरे निठुर सुकुमार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
शूल से बिंध, रो रुधिर, मैं खोजता पथ हार !
कहाँ भटकूँ और कब तक ? अगम है संसार !
अरविन्द ! कर लो बंद मत उर-द्वार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
सत्य है—हम तुम प्रयोजन मात्र, प्राणाधार !
किन्तु हैं आधार फिर भी--मुक्तिपथ के द्वार !
मन में इसी से प्यार की मनुहार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
सुना है मैंने जलधि का सतत हाहाकार ,
देख आया हूँ क्षितिज के छोर छू निस्सार !
मधुर मेरे ! करुण सब संसार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
कर-कमल प्रहसित करो, मैं सौंप दूँ गुंजार—
शूल से, हर फूल से मैंने चुना जो सार !
अलि-प्राण आकुल बढ़ रहा तम-ज्वार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !
अलि न वह तन पर न जिसके केसरी धनसार—
बाहु की कांचन-लता के परस का उपहार !
यह कह रही हर मधुप की गुंजार !

मेरे मनोरम ! मत बनो अनुदार !

इन्दु से

मेरे हृदय !
रख दिया नभ शून्य में किसने तुम्हें,
मेरे हृदय !

इन्दु कहलाते,
सुधा से विश्व नहलाते,
पर न पहचाना तुम्हें जग ने अभी,
मेरे हृदय !

कौन ज्वाला है,
हृदय में जिसे पाला है ?
कौन विष पीकर सुधा-सीकर किया,
मेरे हृदय !

जलोगे कब तक ?
कहा क्या ? स्नेह है जब तक !
रात कितनी और है—सोचा कभी,
मेरे हृदय ?

बहुत कुछ भोगा ,
कभी तो अन्त भी होगा !
यान प्राण, उसाँस मृग वाहन बने ,
मेरे हृदय !

रख दिया नभ शून्य में किसने तुम्हें ,
मेरे हृदय !

उजाली रातें

फिर आ गईं उजाली रातें क्यों मेरा मन हरने ?
खिला व्योम, मुसकाई धरती, मिट्टी लगी निखरने !

दूध-धुला आकाश दीखता,
लिपी फेन से धरती,
सुधर चाँदनी लिपे-पुते में
पाँव न धरती, डरती;
पचक-पचक यों धर धीरे पग सुधि भी लगी उतरने !

सब सब के घर सुधा बरसती,
मौन मुग्ध जग निर्भर,
सुधावृष्टि में खड़े भीजते
चुप्पी साधे तरुवर;
झरने लगे झुकी डालों से झीने झीने झरने !

नहीं असुन्दर जग में कोई
देखा कोना-कोना,
मोहित दृग शशि खींच ले गया
कैसा जादू-टोना !
पाँखे खोल मुग्ध पलकों की आँखें लगीं विचरने !

चन्द्रमल्लिका के फूलों-से
दीखे गोरे बादल,
आँखें उलझ गईं उनही से
अलि ज्यों देख कमलदल,
नीलम की नभ-सरसी में रे लहरें लगीं लहरने !

यह रसभरी, शर्वरी, देखो—
इसकी भरी जवानी !
कहती मुझसे—क्यों न बन सके
स्वस्थचित्त सब प्राणी ?
पौष शेष, निशि खिली पुष्प-सी माघ मास को वरने !

यदि न बन सकी सब दुनिया
ऐसी—सब दिन को सुंदर,
मरते जी न उठे, तो निष्फल
झरे सुधा के निर्झर !
आई वृथा चाँदनी फिर मेरे मन में घर करने !

स्वप्न की बात

'कठिन शीत है,
ठिर न गए हों कहीं तुम्हारे
कोमल कर, कोमल पाँवों के पोर,
(ले अपने उत्सुक हाथों में)
आओ इन्हें तनिक गरमा दूँ,
        आओ भी इस ओर !
छू लेने दो ठंढी ठंढी नोक नाक की
        औ कानों की लोर—
        आओ ना इस ओर !'

तुम मुँह फेर खड़े थे—
देखो मैंने तुम्हें बुलाया,
इतने में खुल गई आँख—
सपना आँखों का जाने कहाँ समाया !

है इनका स्वभाव ही ऐसा—
मिट्टी के प्यालों-से सपने टूट-फूट जाते हैं,
जान बूझ कर आँखों में क्यों
आँसू फिर भी आ जाते हैं ?

शून्य निशा है,
मैं एकाकी—
आओ मेरे पलक पोंछ दो,
प्रिय ! अपने सुकुमार करों में
        ले साड़ी का छोर !
बड़े बड़े करुणार्द्र दृगों से
        देखो ना इस ओर !

पल भर को

यदि कहीं तुम्हारे अलकजाल में छिप सकता मैं पल भर को,
हलकी कस्तूरी की सुगंध !—लेता उसाँस जो पल भर को,
देता विसार सब दोष-रोष मैं अपने और परायों के,
मैं नयन मूँद अलकानगरी के स्वप्न देखता पल भर को !

मेरे मानस-पट खोल सहज, पग धर विभावरी स्वप्नसात्,
आती उन अधगीली अलकों के मेघलोक से सद्यस्नात !
ओ मेरी मोह-महामाया ! ओ श्यामल अलकों की छाया !
तुम चित्र लिखित-सी ऐसी हो, हो जैसे तारोंभरी रात !

वह खुलीं सुकोमल अलक ! और वह मेरे शिथिल पलक पागल !
प्रेयसि ! पल में कर्पूर-सदृश ज्योतित होता सुरभित काजल !
क्या उस संज्ञाहत अंधकार में होगा अमृत प्रकाश नहीं ?
तुम आओ, बैठो केश खोल, अलकें फैला, मैं हूँ निश्चल !

तुम से

नादान, तुम्हारे नयनों ने
चूमा है मुझको कई बार !
कर लिए बंद क्यों आज, कहो,
मानस के दो घनश्याम द्वार ?

सोचा होगा तुमने शायद
उन आँखों में मैं घर कर लूँ,
मैं पीकर उनकी श्याम ज्योति
अपने उर का अभाव भर लूँ,

इसलिए कदाचित् हो न सके
तुम इस याचक के प्रति उदार !

तुम मेरी चाह नहीं समझे,
तुम मेरी थाह नहीं समझे,
याचक कुछ देने आया था—
तुम उसको, आह, नहीं समझे !

ओ फूलों से हलके ! तुमको
बन गया प्रेम इसलिये भार !

तुमसे

तुमने तो भुला दिया मुझको,
पर मैं तुमको कैसे भूलूँ ?
जो मेरी होतीं वह आँखें
तुम कहती—मैं कैसे भूलूँ !

मैं बहुत भुलाने की कहता,
पर हार गया मैं बार बार !

निर्वासित तो कर दिया मुझे
अपनी सम्मोहन चितवन से,
क्या इतना भी अवकाश नहीं
दो गीत सुनो मुझ निर्धन के ?

गुन गाते हँसनी आँखों के
मेरे प्राणों के तार तार !
नादान, तुम्हारे नयनों ने
चूमा है मुझको कई बार !

आशीष

चूमूँ भाल तुम्हारा,
रानी! चूमूँ भाल तुम्हारा!

हो आशीष-विचुम्बित मस्तक
पर अंकित शुचि उशना तारक,
रहे सुहाग-भाग से दीपित
उज्ज्वल यह तारक युग युग तक!
संचित सब शुभ आकांक्षायें अर्चन करें तुम्हारा!

तुम पर, ओ मेरे मन-भावन
बार बार बलि जायें लोचन;
आधि-व्याधि अपने पर ले लूँ,
दृष्टि-दोष को बनूँ आवरण!
बने पराग राग उर का, हो सुखप्रद पंथ तुम्हारा!

हाँ, वैसे तो निपट अकिञ्चन,
पर मेरा भी प्रेमी का मन!
मन-सिंहासन पर जब तक तुम
निर्धन कैसे कहूँ, हृदय-धन!
क्यों, मेरी सम्राज्ञि! लाज से आनत माथ तुम्हारा!

आशीष

है विक्षिप्त तरंगित सागर—
उर में कैसे भाव दिये भर !
और मथो तुम, ओ पाषाणी ,
निकले एक और मणि सुन्दर !
मानिनि ! ऐसी चुम्बन-मणि से हो अभिषेक तुम्हारा !
रानी ! चूमूँ भाल तुम्हारा !

गाँव की धरती

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती ,
खेतों खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती !
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती !

इसके खेतों में खिलती हैं सींगरी, तरा, गाजर, कसूम—
किससे कम है यह पली धूल में सोनाधूल-भरी धरती !
शहरों की बहू-बेटियाँ हैं सोने के तारों से पीली,
सोने के गहनों में पीली, यह सरसों से पीली धरती !

सिर धरे कलेऊ की रोटी, ले कर में मट्ठा की मटकी
घर से जंगल की ओर चली होगी बटिया पर पग धरती !
कर काम खेत में स्वस्थ हुई होगी तलाब में उतर, नहा ,
दे न्यार बैल को, फेर हाथ, कर प्यार, बनी माता धरती !

पक रही फ़सल, लद रहे चना से बूँट, पड़ी है हरी मटर ,
तीमन* को साग और पौहों को हरा,† भरी-पूरी धरती !
हो रही साँझ, आ रहे ढोर, हैं रँभा रहीं गायें-भैंसे
जंगल से घर को लौट रही गोधूली बेला में धरती !

---

* तरकारी †हरा चारा।

प्रेयसी

(१)

पर सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना
हूँ मैं दूर्वादल के समान लघु कोमल ,
तुम ज्यों प्रचंड मार्तंड लिए प्रेमानल ,
स्वाभाविक बना दिया मेरा मुरझाना !
सच, सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !

पर सह्य न मुझको दूर तुम्हारा जाना !
तुम ही सोचो, मैं जीवन किससे पाती ?
यों हरी हरी मैं कैसे निखरी आती ?
सीखती और मैं किस पर दर्प दिखाना ?
सच, सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा जाना !

(२)

पर सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !
मैं हूँ छोटी-सी बूँद ओस की सुंदर ,
तुम जल के लोभी सूर्य, बड़ा चंचल कर—
चाहते व्यर्थ क्यों पल में मुझे मिटाना ?
सच, सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !

पर सह्य न मुझको दूर तुम्हारा जाना !

मैं, तुम्हीं कहो, किसके बल पर मुसकाती ?
किसके प्रकाश में रँग पर रंग खिलाती ?
मरकत पर हँसता क्यों मोती का दाना ?

सच, सह्य नहीं है मुझे तुम्हारा जाना !

किस विधि ?

तुमको कैसे प्यार करूँ ?
मेरी विफल तपस्या, किस विधि
श्रीपद अंगीकार करूँ ?

इस खंडित तप वाले को भी
छू लेने दी तुमने छाया,—
सुनो, क्षितिज के स्वर्ण, बहुत है
बस इतनी भी ममता-माया !

छाँह न छीनो, पास न खींचो,
बिनती बारम्बार करूँ !

लो मेरा दुर्भाग्य ! और क्या
दूँगा मैं शाश्वत हतभागी ?
बदले में वरदान माँगता
देखो तो यह मन अनुरागी ?
मैं इस पागल अपनेपन पर
फिर न कभी अधिकार करूँ !

भूल भटक कितने बीहड़ पथ
पार किये तब पहुँचा तुम तक,

आशा पर विश्वास किया था
मैं निराश तब पहुँचा तुम तक,

मैं हताश आशा छलना का
फिर फिर जयजयकार करूँ !

चाहे कुछ मत दो, पर मत दो
मेरा वह खोया अपनापन !
मत दो वह पीछे छूटे जो
मरु मरघट खँडहर निर्जन वन !

दो इतना अधिकार कि मैं
अभ्यागत कुछ सत्कार करूँ !

सुनो, तुम्हारे श्रीपदतल-नत
कोई भी मस्तक गौरवमय;
तुम मेरे न हो सके, फिर भी
आज तुम्हारे बल पर निर्भय

मैं जीवन-पथ पर बढ़ता, शत
बाधाएँ स्वीकार करूँ !

स्नेह-दीप

छोड़ आया जो दीपक बार–
बुझ गया होगा वह नादान,
छोड़ आया जो दीपक बार !

ज्योति की कनक प्रभा ने नयन
लिए होंगे अब तक तो मूँद,
स्नेह परिमित था, तुमने और
न डाली होगी उसमें बूँद,

झरे होंगे जो सुधि के फूल
हुए होंगे जल बुझ कर क्षार !

जले औ बुझे बहुत से दीप,
न क्या हम ज्योति-तमस-आवास ?
किन्तु मेरे दीपक के साथ
बुझे मेरे आशा - विश्वास !

बहुत चाहा था जीवन भार
न हो, हो जाय न जग निस्सार !

बहुत कहने सुनने पर और
बाद बाक़ी है इतनी बात,
कभी जब हो कठोर आघात
नहीं रहती कहने को बात !

मिटा दोगी ही जो अवशेष
धुएँ के धब्बे हों दो चार !

देवली कैम्प जेल में

एक हमारी भी दुनिया है,
घिरी कँटीले तारों से जो
घिरी हुई दीवारों से!

इन तारों के, दीवारों के
पार चाँद-सूरज उगते हैं,
ऊपर दिन के हंस, रात के
मानस के मोती चुगते हैं!

हम भी दूर दूर दुनिया से
उन सूने नभ-तारों से!

हम दीवारों के भीतर हैं,
मन के भीतर हैं मनुहारें,
पर पलकों की ओट नहीं
होने देतीं काली दीवारें,
मन मारे मनुहार पड़ी हैं
बँधी कँटीले तारों से!

यहाँ कँटीले तार खिंचे हैं
जिनके पार रँगीले बादल!
साँझ-सुबह के बादल दिखते
जैसे खिले डाल पर पाटल!

पूछो, लाल रंग कैसा है,
बिंधी हुई मनुहारों से !

बुलबुल गीत यहाँ भी गाती,
कभी सुबह पीलो उड़ आती,
नील चँदोवे में रजनी भी
रत्नों के नक्षत्र सजाती,

हँसते रोते, सोते जगते,
हम भी घिर दीवारों से !

बाहर करवट लेती दुनिया,
बदल रहा जग बिना बताए,
कौन जीवितों की समाधि पर
फूल गिराए, ओस चुआए ?

सजते नहीं नए घर, प्यारे,
उजड़े बन्दनवारों से !

युग-परिवर्तन के इस युग में
बैठे कर्तव्यों से वंचित,
दुनिया के मुँहदेखा, बाक़ी-
केवल बीते की सुधि संचित,

दूर समय की धारा बहती
छूटे हुए कगारों से !

पर जो दूर गरजता सागर
हम भी उसकी एक लहर हैं,
उस विशाल के कण हैं हम भी,
महाकाल के एक प्रहर हैं !

गति को कब तक बाँध सकेंगे,
पूछो पहरेदारों से !

संसृति के अगाध अंबुधि में
लहर, लहर पर क्षुब्ध फेनकण
झलकेंगे हम मिटते मिटते
प्रलय-लास में क्या न एक क्षण !

हाथ उठा कर होड़ लगाएँ,
लहरों की ललकारों से !

वन्हि-वृष्टि की चिनगारी हम,
दब कर बीज बनेंगे ऐसा,
जिसके दल होंगे लपटों से,
और फूल होगा शोले-सा ;

कुट-पिट कर कुछ निखरेंगे ही
हम नित नए प्रहारों से !

बैरेक से

(१)

यहाँ कँटीले तार और फिर खिंची चार दीवार,
मरकत के गुम्बद-से लगते हरे पेड़ उस पार !

'हाँ—ना' कहते नीम, हिलाती शीश डालियाँ,
इमली पहने जैसे झीनी - बिनी जालियाँ !
पीपल के चौड़े पत्ते दिखते ज्यों हिलते हाथ,—
दूर दूर तक धूप हँस रही, वह भी हँसते साथ !
हाथ हिलाते, पास बुलाते, शीश डुलाते मौन,
कहते—देखें पास हमारे पहले आवे कौन ?

यहाँ कटीले तार और फिर खिंची चार दीवार,
मरकत के गुम्बद-से लगते हरे पेड़ उस पार !

छायाछल की रात

आज रात को पहले-पहल नीम महका है,
मैं छाया में खड़ा हुआ हूँ आँखें मीचे !
कहता हूँ मैं—आज रात कितनी सुंदर है
कभी देख लेता हूँ जब पाँवों में नीचे !

देख रहा हूँ छायाछल, मैं सोच रहा हूँ—
कौन अल्पना काढ़ रही है विस्मित भू पर ?
मौन मुग्ध मैं देख रहा हूँ तम के भीतर—
नाच रही हैं किसकी चटुल अँगुलियाँ ऊपर !

बहती मंद समीर, अधीर हृदय में सुधि-सी ,
हिलती भू पर तरु-पत्रों की छाया चञ्चल ,
सुन पद-चाप किसी की जैसे फूल-बेल-बूटों
की सारी में कँप कँप उठता वक्षस्थल !

छाया-छल की रात ! कहो तुम कहाँ छिपी हो ?
कहाँ छिपाए है तुमको तरु सौरभशाली ?
पहन मंजरी-मुकुट पूछता तुमको ऋतुपति-
कहाँ छिपी हो, झलके सुरभित अलकों वाली ?

दूर दूर तक अंधकार है, दूर दूर तक—
गंध नीम की फैल रही है आज चतुर्दिक !
'आया मधुर वसन्त, विधुर वनवासी, जागो'—
कह कह कर यों क्या न उठेगी कुहुक कुहुक पिक ?

पंचमी आज

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

तुम मुझसे कितनी दूर आज, आ रहा ध्यान—
मिलने को उड़ उड़ जाने की कह रहे प्राण !
जा रहा लिए मधुगंध नीम की गंधवाह,
पर भूल गया मुझसा ही वह भी कठिन राह !

आया अग जग ऋतुराज आज, तुम दूर आज !
हीरे बिखराती रात आज, तुम दूर आज !
हो दूर आज, तुम मुझसे कितनी दूर आज !
फीके लगते सब साज आज, तुम दूर आज !

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

मि० ८

क्या वहाँ न मन के रोग-शोक, दुख-रोग-शोक ?
है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक !
क्या वहाँ न सब दिन विरह-मिलन आलिंगन भर
रहते जैसे छाया-प्रकाश या अश्रुहास से जीवन भर ?

है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक—
क्या वहाँ सभी जन वीतराग, स्थिरचित, अशोक ?
कैसे जानूँ, कैसे मानूँ मैं नक्षत्रों की छिपी बात ,
पर अग जग आज उजागर तारोंभरी रात !

पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !
हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !

रात

ओ जगमगाती रात !
इस अपरिमित मौन में (मधुमर्म के) ओ गान गाती रात !
ओ जगमगाती रात !

बताओ किस भेद से गंभीर हो तुम ?
क्या सदा से ही अविचलित धीर हो तुम ?
आँसुओं की ओस कैसे छिपाती हो ?—
यह मुझे भी बताओ, ओ तारकों में मुसकुराती रात !
ओ जगमगाती रात !

बाट किसकी जोहती हो, असितवसना ?
मुसकान मन की कौन है, हे कुंददशना ?
कौन उनमें आँख का तारा तुम्हारा ?—
बताओ, ओ पायलों की गूँज वाली स्तब्ध आधी रात !
ओ जगमगाती रात !

विवश हो दो हृदय क्योंकर पास आते ?
एक हो दो हृदय क्यों फिर बिछुड़ जाते ?
क्या न वह फिर पास आते ? सच बताओ ,
ओ वियोगी हृदय के सुनसान में नगरी बसाती रात !
ओ जगमगाती रात !

मेरे गान !

विकल मेरे गान !
ठहर पल भर, धीर धर, ओ विकल मेरे गान !

आज तू मत खोल उर के द्वार ,
आज भीतर बंद है विक्षिप्त हाहाकार ,
थम ज़रा, मेरे हृदय में थमे हैं तूफ़ान !

ग्रंथि तू मत खोल उर की आज ,
बँधी है अभिशाप की गंभीर गर्जन गाज ,
गिरेगी वह, और जिस पर रोष वह नादान !

पास मत आ आज, मेरे कीर !
उठ रही हैं आज लपटें लाल सीना चीर !
धधकते अरमान मेरे, सुलगते हैं प्राण !

कंठ कुंठित, हृदय है पाषाण ,
आँख में आँसू न, चुभते अग्नि के से बाण ,
मृत्यु मुझसे दूर, पर क्यों प्रलय का सामान ?

एक मुट्ठी हड्डियाँ हैं भार ,
एक दिन ये फूल होंगी, अग्नि होगी क्षार ;
और बिखरे पड़े होंगे कुछ दुखद आख्यान !

विकल मेरे गान !

निर्वासित

दूर हूँ, परदेस में हूँ; गूँज मत, ओ देश के स्वर !

उमड़ मैदानी नदी-सी बह चलेगी पीर ,
बहुत चौड़ा पाट, वह धारा बड़ी गंभीर ,
फट गया है हृदय, है दो टूक ज्यों दो तीर—
कैसे समाएगी भला, सब बाँध मेरे हुए जर्जर !
गूँज मत, ओ देश के स्वर !

व्यर्थ आएगी मुझे तब याद पहली बात ,
बहुत गहरा पहुँचता स्वर का मृदुल आघात !
बह चलेंगे नसों में विक्षिप्त तड़ित-प्रपात,
सुनसान मेरा देश यह मरुदेश है, है दूर सागर !
गूँज मत, ओ देश के स्वर !

जल चुका है स्नेह मेरा, बुझ गया है दीप ,
गल गया विश्वास का मोती, पड़ी है सीप !
बहुत काले साँप मेरा पथ गए हैं लीप—
हूँ राख का सा ढेर मैं, है भस्म सब सुकुमार अंतर !
गूँज मत, ओ देश के स्वर !

एक रात

गंगा की धारा-से लगते दूर दूर तक बादल ,
नीलम के तट, स्निग्ध दूधिया लहरों का वक्षस्थल !
गोदी में तिर रहा इन्दु सिर धरे इन्द्रधनु-मंडल ,
मेरे मन-सी चपल वायु भी पल दो पल को निश्चल !

पलकों से आँखें कहती हैं—देखो मुँद मत जाना ,
सदा नहीं रहती यह दुनिया इतनी कोमल उज्ज्वल !

पंचमी का चाँद

आज चाँदी की कटारी की तरह
दीखता है पंचमी का चाँद यह !
देख इसको कट सकेगी रात कुछ,
और भी—कट जायगा कुछ तो विरह !

विरह? किसका विरह? तेरा कौन है?
कौन है, कुछ तो बता, मन, कौन है?
विरह उसको, मिलन जिसको इष्ट हो,
पर बता किस ध्यान में तू मौन है?

देख बादल—लगा रेवड़ खड़ी भेड़ !
देख कैसे मौन साधे खड़े पेड़ !
देख तारे भी खिले दो चार जो,
उड़ वहाँ तू कल्पना को लगा एड़ !

हृदय मेरे ! विरह की मत बात कर,
ख़ूब ख़ुश हो और हँस इस बात पर !
हम सितारों के इशारों पर चलें,
आ, हँसें अब चाँद-तारे देख कर !

भाग्य निश्चित हो चुका तेरा, हृदय !
हँस; न कर इन तारकों से आज भय !
हम धरा पर पाँव अड़ा खड़े रहें
और मन को हो गगन लीला-निलय !

यहाँ की बरसात

(१)

गरज रहे घिर मेघ साँवले
नाच रही गोरी बिजली ;
बरस रही होंगी ऐसी ही
बूँदें घर-घर, गली-गली !

दीवारों से लगे खड़े होंगे
चुप छान और छप्पर ,
झरती होगी खामोशी से
ओलाती भी झिन-मिन कर !

चौड़ी छाती खोल असाढ़ी
पड़ी पी रही होगी ग्राल !
शरमा कर हामी भरती-सी
होगी झुकी नीम की डाल !

बरस रहीं बूँदें रिम-झिम कर ,
तरस रहीं प्यासी आँखें ,
मन मारे मन-पंछी बैठा है
समेट भीगी पाँखें !

यहाँ की बरसात

बहुत दूर वह जहाँ ममीरी
ताँबे की उड़ती फिरती,
भरी पोखरों में
भैंसों की जहाँ पल्टनें फट पड़तीं!

वह बरसाती शाम रँगीली,
खेतों की सौंधी धरती!
ऊँची ऊँची घास लहरती,
बंजर में गायें चरतीं--

बूँदा-बाँदी से दुखमातीं,
खड़े रोंगटे, नीला रँग,
पूँछ उठा भर रहीं चौकड़ी,
सुते छरहरे चंचल अँग!

एक हुए होंगे जल-जंगल,
पर मैं उनसे कितनी दूर!
डोल रहे होंगे पटबिजना
जलते जैसे चूर कपूर!

गोद भरे पीले फूलों से
खिल बकावली मेड़ों पर--
बैठी होगी; जामुन अमिया
लदीं रौस के पेड़ों पर!

कौंध रही बिजली रह रह कर
चुँधिया जाती हैं आँखें,
मन मारे मन-पंछी बैठा है
समेट भीगी पाँखें!

(२)

वह बरसाती रात शहर की!
वह चौड़ी सड़कें गीली!–
बिजली की रोशनी बिखरती
थी जिन पर सोनापीली!

दूर सुनाई देती थी वह
सरपट टापों की पट पट,
कभी रात के सूनेपन में
नन्हीं बूँदों की आहट!

आती जातीं रेलगाड़ियाँ भी
तो एक गीत गातीं!–
कहीं किसी की आशा जाती,
कहीं किसी की निधि आती!

पार्क सिनेमा सभी कहीं
ये बूँदें बरस रही होंगी,
किसे ज्ञात—मेरी आँखें अब
किसको खोज रही होंगी!

यहाँ की बरसात

घर न कर सका कभी किसी के
मन में मैं जो अभिशापित ,
सोच रहा हूँ अपने घर से भी
अब मैं क्यों निर्वासित ?

यही महीना, गए साल जब
बरसा था जम कर पानी ;
रातों रात द्वार पर कामिनि
फूल उठी थी मनमानी !

तीव्र गंध थी भरी हृदय में
सहज खुल गई थीं आँखें !
आज यहाँ मन मारे बैठा
मन-पंछी, भीगी पाँखें !

छोड़ समंदर की लहरों की
नीलम की शीतल शय्या ,
आती थी वह बंगाले से
जंगल जंगल पुरवय्या !

झीनी बूँदोंबीनी धानी
साड़ी पहने थी बरसात ,
गरज तरज कर चलती थी वह
मेघों की मदमत्त बरात !

झर लगता था और वहीं पर
बूँदें नाचा करती थीं,
बाजे से बजते पतनाले,
सड़क लबालब भरती थीं!

कुरता चिपका जाता तन पर,
धोती करती मनमानी,
छप छप करते थे जूते जब
बहता था सिर से पानी!

भरी भरन उतरी सिर पर से,
कहाँ साइकिल चलती थी!
घर के द्वारे कीच-काँद थी,
चप्पल चपल फिसलती थी!

प्यारी थी वह हुँमस धमस भी,
खूब पसीने बहते थे!
अब आई पुरवय्या, आया पानी,
कहते रहते थे!

बरसे राम बचे दुनिया—यों
चिल्ला उठते थे लड़के,
रेला आया, बादल गरजे,
कड़क कड़क बिजली तड़पे!

यहाँ की बरसात

(कितनी प्यारी थीं बरसातें—
हरे - हरे दिन, नीली रातें !
रंग - रँगीली सांझ सुहानी ,
धुली-धुलाईं सुंदर प्रातें !)

आई है बरसात यहाँ भी—
आज ऊमना, कल झर था !
होते यों दिन-रात यहाँ, पर
अंतर धरती - अम्बर का !

यहाँ नहीं अमराई प्यारी
यहाँ नहीं काली जामुन ,
है सूखी बरसात यहाँ की
मोर उदासा गर्जन सुन !

इन तारों के पार कहीं
उड़ जाने को कहतीं आँखें ,
पर मन मारे बैठा मेरा
मन - पंछी, भीगी पाँखें !

हवा में नीम

मौन था मैं, आह भर भर
कर कराहे रात भर तुम—
नीम! मेरे भाव हैं वह,
दे रहे हो तुम जिन्हें स्वर!

झकझोर जाती मुझे भी,
जब जो अधीर झकोर आती;
बिंधे उर की मुरलिका के
सुप्त रंध्रों को रुलाती;

बँधे बंदी! सुनो तुममें
और मुझमें कहाँ अंतर?

तारकों की छाँह में मैं भी
किसी को झाँकता हूँ,
शून्य में मैं भी किसी के
लिए बाँह पसारता हूँ!

देखता हूँ क्या न मैं भी
नित्य अगम अथाह अंबर?

जब समय आता, सखे !
मधुमास - पतझर तुम्हें आते ;
किन्तु क्या वह हृदय का
विश्वास भी सब फूँक जाते ?

मूल मेरी ही नहीं, मैं रहूँ
जिस पर सदा निर्भर !

वासन्ती

मैं गीत लिखूँ, तुम गाओ !

मेरे बौरे रसालवन - से
मन में कोयल बन जाओ !

जो दबी दबी इच्छाएँ थीं
उमड़ी हैं बन पल्लव - लाली ,
भावों से भरे हृदय - सी ही
काँपी - थिरकी डाली डाली !

स्वर देकर मौन मूक मुझको
मन में संगीत बसाओ !

मंजरित आम्र की मधुर गंध
में उठी झूमती अभिलाषा ,
पल्लव के कोमल रंगों में
है झूल रही मेरी आशा ;

क्या क्या मेरे मन - कानन में
तुम गा गा कर बतलाओ !

मेरे रोमों से गीत खिलें—
किरणें फूटें जैसे रवि से,
रसभरे पके अंगूरों-से
हों मधुर शब्द मेरे कवि के!

जीवन का खारा जल मधु हो,
जब तुम अधरों पर लाओ!

पतझर-वसन्त, पतझर-वसन्त—
इस क्रम का होगा कहीं अन्त?
हैं इने-गिने जीवन के दिन,
है जग-जीवन का क्रम अनन्त!

अनगाए रह जाएँगे गाने—
आओ, मिल कर गाओ!

सुबह

डूब रहे नभ के तारे झर रहे जुही के फूल जैसे !

धौले घन हो रहे केसरी
पिंगल पल्लव - डाल जैसे,
भरा स्वर्णचम्पा से निर्मल
नभ का नीलम थाल जैसे,

आसमान सब सोना - सोना, धरती सोनाधूल जैसे !

पौ फटती, अवनी - अम्बर का
होता दूर दुराव जैसे !
बिंध इच्छा - शर से शरमाती
प्राची लाल गुलाब जैसे !

लाल किरण ज्वालाशर ऐसी, बादल जलती तूल जैसे !

जहाँ पीत पुखराज सोहता,
बिखरी माणिकमाल जैसे ;
अर्धउदित रवि माणिक-कुंडल
मुकुलित अरुण मृणाल जैसे ;

अरुणोदय के बादल दिखते हिलता दूर दुकूल जैसे !

तारे छिपते, सूक डूबता,
थका अकेला चाँद जैसे—
देख, फेर फीका मुख, जाता
दीवारों को फाँद जैसे;
रात और दिन भी हम-तुम-से सरिता के दो कूल जैसे!

एक और दिन आया, प्यारे!
यह जीवन दिनमान जैसे;
हुई सुबह—पीलो उड़ आई
मेरे पुलकित प्राण जैसे!
खिंचे कँटीले तार सामने, चुभते सौ सौ शूल जैसे!

पावस की साँझ

संध्या पावस की !
रंगों की बौछार कर रही संध्या पावस की !

दूर दीखता रंगमहल वह
जिसके फ़ीरोज़े के छज्जे,
सोने की दीवारें जिसकी
महराबी मानिक दरवज्जे;
जाते जाते उझक गई रे संध्या पावस की !

इन्द्रनील के आसमान में
दिखते रंग-बिरंगे बादल,
कहीं इन्द्रधनु के सत रंगों
से भर जाता शून्य दिगंचल,—
वह धनुषई चीर लहराती संध्या पावस की !

कहीं बैंगनी, जामानी, तो
कहीं कत्थई, कहीं सुरमई,
लाल-सुनहले सौ रंगों से
आसमान को शाम भर गई;
इन रंगों में डुबो गई मन संध्या पावस की !

मेरे प्राण परिन्दों से ही
डूब डूब जाते रंगों में,
संध्या के सौ रंग सौ तरह
भर जाते मेरे अंगों में;
आज गगन-मन में बसती रे संध्या पावस की !

भक्तिभीत

दी मैंने उसको भक्ति
और वह काँप गई !
जब दिया अमित विश्वास
थकी - सी हाँफ गई !
क्या भार-वहन के श्रम से ?—ना ।
मन में यह भय, सच्चा भय था—
मैं क्षुद्रपात्र, खिलवाड़ बनूँगी अब कैसे औरों को ?—
खिलवाड़ बनूँगी उच्छृंखल, रस के लोभी भौंरों को ?

मैं गया पास विनयानत ,
वह हट दूर गई !
सर्वस्व दिया, तो कहा—
'नहीं यह रीति नई !'

एकाकी

इस धूप-छाँह की दुनिया में
मन, सदा अकेले ही घूमो !
घूमो चाहे जंगल जंगल,
चाहे उड़ तारों को चूमो !

धरती के चारों खूँट तुम्हारे
हैं, चाहे जिस ओर चलो ;
चारों सिम्तें अपनी ही हैं
तुम चाहे जो रस्ता पकड़ो !

बस एक बात लो गाँठ बाँध
जिससे न कभी फिर हाथ मलो,
वह याद रही तो छुट्टी है—
फिर चाहे जो रस्ता पकड़ो !

तुम भूल न जाना—दुनिया में
है सदा अकेले ही रहना,
एकाकीपन को सह न सको
फिर भी एकाकी ही रहना !

यह तुम्हें नसीहत है मेरी—
जिससे न कभी फिर हाथ मलो ,
बस याद रहे यह, छुट्टी है
फिर चाहे भी जिस ओर चलो !

तुम दर्पन में भी कभी भूल
खोजना नहीं जीवन - साथी !
मन, वह भी साथ नहीं देती
जो स्वयम् तुम्हारी छाया थी !

बस याद रहे यह, छुट्टी है
फिर चाहे भी जिस ओर चलो !
चारों सिम्तें अपनी ही हैं—
तुम चाहे जो रस्ता पकड़ो !

घूमो चाहे जंगल जंगल ,
चाहे उड़ तारों को चूमो ;
पर धूप छाँह की दुनिया में
मन, सदा अकेले ही घूमो !

थक गए अगर अपनी उड़ान से
अपने पास बिठाऊँगा ,
मैं बड़े लाड़ से, बड़े प्यार से
गा गा गीत सुनाऊँगा !

थक गए अगर अपनी उड़ान से
अपने पास लिटाऊँगा,
लोरी गा गा, दुलरा-दबोर,
मैं मीठी नीद सुलाऊँगा!

थक गये अगर, मैं तुम्हें प्यार से
आँखों में बिठलाऊँगा,
पलकों की ओट न होने दूँगा
सुंदर स्वप्न दिखाऊँगा!

जब नीद ले चुकोगे, तुमको
धीरे से चूम जगाऊँगा;
गा गीत सुनहले, तुम्हें उजेला
सुंदर देश दिखाऊँगा!

मैं बोलूँगा बतलाऊँगा;
चाहोगे, चुप हो जाऊँगा;
तुम जब उदास हो जाओगे,
मैं हँस कर गले लगाऊँगा!

ओ सोनचिरय्या-से मेरे!
ओ सोनजुही-से मन मेरे!
बस भूल न जाना इतना ही,
तुम मेरे हो—केवल मेरे!

जाओ पर नेह लगाना मत ,
जाओ पर मोह जोड़ना मत ,
यह मैंने जो आदेश दिया ,
मन मेरे, उसे तोड़ना मत !

धरती के चारों खूँट तुम्हारे
हैं, चाहे जिस ओर चलो !
चारों सिम्तें अपनी ही हैं
तुम चाहे जो रस्ता पकड़ो !

घूमो चाहे जंगल जंगल ,
चाहे उड़ तारों को चूमो ;
पर धूप-छाँह की दुनिया में
मन, सदा अकेले ही घूमो !

अकेलेपन

आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !
ढल गया दिन, शेष होगा एक दिन जीवन !

यह सुनहली साँझ, लोहे के कँटीले तार—
खो गई मेरे हृदय की सुनहली झंकार !
सूर्य-से इस डूबते दिल में नहीं अब प्यार !—

वहाँ नभ में खिल रहा मंदार का कानन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

दूर सोने के कँगूरों से उतरती रात
रेशमी सुरमई साड़ी में ढँके मृदु गात,
सजीली है—सूक की बेंदी दिए अवदात !

दिप रहा है कनकचम्पक चाँद-सा आनन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

देखते आकाश बीती आज आधी रात,
व्यर्थ है जो आय अब भी याद भूली बात,.
सह चुका हूँ बहुत से आघात पर आघात,

अभी कुछ कुछ रुका-सा था हृदय का रोदन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

दिन मुँदे ही सो गए थे पेड़ के सौ पात,
पड़ गया सोता यहाँ भी—बढ़ रही है रात,
छिपा नौ का अंक जो लिखते सितारे सात !

जागते बस दो जने—मैं और मेरा मन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

क्या गाऊँ ?

गाऊँ भी तो क्या गाऊँ ?
मैं रो गा कर अब कब तक मन बहलाऊँ ?

यह लाइलाज रोगी मन है,
यह क्षुद्र पात्र-सा जीवन है,
क्या मैं मानव—मैं इनमें सिमट समाऊँ ?

इस क्षीण रुधिर की धारा का
क्या बह सकना ही ध्येय बने ?
धाराओं का गंगासागर—संगम-
समाज या—गेय बने ?
बन क्षुद्र रहूँ या मैं विशाल बन जाऊँ ?

बुन बुन उधेड़ता रहूँ सदा
इस धूप-छाँह की जाली को ?
क्या ओठों पर लाऊँ हर दम
सब सब की जूठी प्याली को ?
जाग्रत जीवित हो जिऊँ या कि मर जाऊँ ?

है एक ओर इच्छाओं का
वासनाजनित छायान्धकार,
औ दूर दूसरी ओर दीखता
संयम का अवरुद्ध द्वार !
मैं श्रेय प्रेय में से किसको अपनाऊँ ?

युवक क्लार्क

साँझ हो गई, घर को आया
दिन भर का ऊबा-ऊबा,
एक उबासी ले, करवट ली,
सुख-सपनों में जा डूबा !

आसमान का नील चँदोवा
ऊपर, नीचे हरियाली।
पास कहीं बहता जल, ऊपर
लदी फूल-फल से डाली !

चाँद-सितारों की रातें हों,
बीतें धूप-छाँह के दिन,
वहाँ न बीतें रात सितारे
और दिवस घड़ियाँ, गिन गिन !

गीत सुनूँ कोयल-बुलबुल के,
प्रीति करूँ तो जंगल से !
मन बहलाऊँ पेड़ों नीचे
देख खेल छाया-छल के !

हो मानुस की गंध न बन में,
हों न यहाँ के दुःख-कलेस ;
है इतनी-सी चाह हमारी,
कहाँ मिलेगा पर वह देश ?

युवक क्लार्क

जिन जिन को मैं भूल चुका हूँ
मुझे याद आएँ न कभी ;
जिनने मुझको भुला दिया हो
उन्हें भुला दूँ यहीं, अभी !

ऐसा देश दिखाओ जिसमें
हो न मोह-फाँसी-फंदा ;
दिल ऐसा ख़ुश ख़ुश हो जैसे
पूरनमासी का चंदा !

रोटी की ख़ातिर बनना हो
नहीं किसी का मुझे ग़ुलाम,
ताँबे के मैले टुकड़ों पर
हो न काम से कोई काम !

है इतनी-सी चाह हमारी
पूरी कर, मेरे ईश्वर !
एकाकी हूँ, मेहनतकश हूँ,
और किराए का है घर !

साँझ हो गई घर में बैठा
दिन भर का ऊबा-ऊबा,
एक जँभाई ले, अँगड़ा कर
सुख-सपनों में जा डूबा !

गतिरुद्ध

आज मैं गतिरुद्ध हूँ !

मिला सीमाहीन अंतर,
खिचीं सौ मरजाद बाहर !
कठघरे में बंद कोड़ों से
पिटा है हृदय-नाहर !
पर्वतों से मथे फेनिल सिन्धु-सा विक्षुब्ध हूँ !

धँस रहा हूँ रसातल में,
फँसा बाड़व की भँवर में,
और आहत अहं अहि-सा
पैठता गहरे विवर में !
कठिन धन्वा से छुटा टूटा प्रखर शर क्रुद्ध हूँ !

मानसर का सलिल सूखा,
पंक-सा उर भी गया फट,
कल्पना श्यामा सलोनी
खोजती अन्यत्र पनघट !
अंक-घट का ठीकरा मैं दलित और अशुद्ध हूँ !

स्वप्न मिटते—मिट रहा मैं ,
किन्तु क्या नाचीज़ हूँ मैं ?
मिला मिट्टी में, गला जो ,
नए भव को बीज हूँ मैं !
दैन्य में मैं विभव हूँ, मैं बुद्धिजीव प्रबुद्ध हूँ !

क्षुब्ध

लक्ष्य-भ्रष्ट तीरों से ख़ाली जो, ऐसा तूणीर,
मूठ रही बस कर में जिसकी, मैं ऐसी शमशीर!
कहने को भी नहीं रहा कुछ—मेरी ऐसी पीर,
सूख चला जल जिसका, मैं ऐसी नदिया गंभीर!

छोटी छोटी इच्छाएँ दे जातीं मुझको त्रास,
दूर सत्य का देश—स्वप्न-वन में मेरा अधिवास!
नहीं आज आश्चर्य—हुआ क्यों जीवन मुझे प्रवास,
अहंकार की गाँठ रही मुझ पंसारी के पास!

नीलम के गुम्बद को तड़का दें—आँखों की चाह,
व्योमविहारी मन को मिलती नहीं वहाँ भी राह!
जैसे मेरा दुख ही सब कुछ—ऐसे रहा कराह,
हुआ राख का ढेर—नहीं बुझता भीतर का दाह!

तट से टकरा, पटक पटक सिर उठतीं लहरें क्षुब्ध,
फिर विलीन हो जातीं मन की पोखर में गतिरुद्ध!
यह दयनीय दशा मेरी—मैं अपने ही से क्रुद्ध,
ऐसा क्षुद्र पात्र जो खंडित लुंठित और अशुद्ध!

निकल, कूप-मंडूक-अहं, बाहर है विश्व विशाल !
दीवारों को फोड़, तोड़ सीमाओं के जंजाल !
ओ आहत अलि, बिंधे हृदय से टूटे शूल निकाल !
मेरे सूने अपनेपन, आने का नया सकाल !

गुम्बद-सा अंगार उठ रहा तिमिर-गर्भ को चीर,
काटेगी तेरे तम को भी यह लोहित शमशीर !
बेध रहे हैं देख हृदय के तम को रवि के तीर,
कवि ! खाली खाली मन तेरा हुआ भरा तूणीर !

मन से

अब पत्थर बन जा, मन मेरे !—
जिससे तुझको घन और हथौड़ा ही तोड़े !
खन खन का लगना, जी दुखना छूटे ,
तू भी अपना रोना-धोना छोड़े !

क्या बने काच का पैमाना—
जिसको कोई भी चाहे जब तोड़े-फोड़े !
बन जा कठोर—जिससे न कभी
फिर तू कठोर इस दुनिया से, मन, मुँह मोड़े !

जब वक़्त आयगा, दुःख जायगा—
भरने दे इनको, फूटेंगे ये तेरे दुखते फोड़े !
तू ख़ाक फाँक दिल ताज़ा कर
ज्यों लोट रेत में हो ताज़ा उठते घोड़े !

अपने से

तोड़ फेंक पतवार रे—तू
अपना नहीं कहीं कोई, अपनी जीवन-मझधार रे—तू०

लहरें तेरी बाँह गहेंगी,
सब दिन तेरे संग रहेंगी,
मिला बोल से बोल बहे तू
ये लहरें जिस ओर बहेंगी;
हाथ उठा कर साथ गगन के स्वामी को ललकार रे—तू०

निगल गई पच्छिम में रवि को
नागिन-सी ये साथिन तेरी,
उगल रहीं फुफकार मार कर
भर भादों की रैन अँधेरी;
छिटक गए हैं झाग, दीखते जो तारे दो चार रे—तू०

देखा तट तटनी का मिलना,
रोना क्या जो साथ छूटता?
देख कगारों का भी गिरना,
रोना क्या जो हृदय टूटता?
सह प्रहार, पर गिर कगार-सा कर मत हाहाकार रे—तू०

उसका सोच-फ़िकर करना क्या
अपने बस की बात नहीं जो !
एक आस ही पास रही, ये
ले जाएँगी बहा कहीं तो !
बहने में भी सुविधा होगी, नहीं कहीं आधार रे—तू०

तुझको कहाँ पड़ी पल भर कल—
चाहा बहुत बुद्धि ने छलना !
तू अपना भी भला न कर सका
व्यर्थ हुआ बच बच कर चलना !
अब तो प्रलय-पूर में चाहे जितने पाँव पसार रे—तू०
तोड़ फेंक पतवार रे—तू०

बनफूल

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक ,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक !
वायु डोली, लहर उभरी, फूल भूला, मिले ओठ ,
फूल भूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिषेक !

बहुत सी आईं गईं लहरें, न आई वही एक—
ले गई जो फूल की मुसकान, अंतर का विवेक !
उलहना देता रहा बनफूल—' तुम आईं नहीं ! '
गीत गाता रहा, देती रही मंथर वायु टेक !

नदी बहती, समय जाता, आस भी जाती रही ,
विवश हो बनफूल ने यह बात सरिता से कही ,
' ले चलो मुझको, जहाँ वह लहर ठहरी वाट में । '
चाँद निकला, हँसी सरिता, निरुत्तर बहती गई !

फिर वहाँ आई चटुल चिड़िया बनी से, वारि देख ,
तीर पर बैठी, सिमट ज्यों गई नभ की स्वर्ण-रेख !
फूल को देखा, सुनहली चोंच में ले कर कहा—
'पिया जल दो घोंच, सरि, जो—दे रही हूँ मोल देख !'

फूल धारा में रहा बह, कह रहा है बार बार—
'वह लहर किस महल बसती ? कब खुलेंगे बंद द्वार ?'
सूर्य चढ़ आया, नदी हँसती रही ज्यों दिवास्वप्न ,
फूल बहता रहा, कहता रहा—' बोलो, क्षिप्र धार !'

एक दिन बोली नदी—' मैं तो समय की धार हूँ ,
मैं विरह का अश्रु हूँ, मधुमिलन - लोचन चार हूँ ,
लहर मेरा अंश, ओ बनफूल ! मत यह भेद भूल—
छू गया संकेत जिसका, मैं वही मझधार हूँ !'

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक ,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक !
वायु डोली, लहर उभरी, फूल भूला, मिले ओठ ,
फूल भूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिषेक !

पहाड़ की याद

वह सुरभित शीतल छाया !
फिर याद आ गई पर्वत पर के देवदारु की छाया !

भीनी थी गंध लाल चन्दन की जैसी ,
थीं बिछीं पत्तियाँ भी चन्दनचूरे सी ,
हाँ, मेरी थकी देह जैसा ही मंद मरुत अलसाया !

वे खेत धान के, सोती पर्वत - घाटी ,
लेटी थी हरी-भरी ढिग पर्वत-पाटी ,
ज्यों जीवन की दोपहरी में सो रही कामना-काया !

उस हरी दुपहरी में लेटा था थक कर ,
मैं पूछ रहा था मन से इसका उत्तर—
मधुकर ! क्या मधु कुछ काग़ज़ के फूलों में पाया ?

तब याद आरही थीं कितनी ही बातें ,
आँसू से खारे दिन औ मीठी रातें ,
वह भी, जो पहले कभी किसी को नहीं बताया !

मेरा यह क्षुद्र हृदय, वह विशद हिमालय !
सोचा अनन्त उस सुन्दरता में हो लय—
(जाने किसने ?) यह अश्रु-हास का जीवन खूब बनाया !

मैं देवदारु के देवालय में सोया ,
उस दिन वर्षों का दुख लघु क्षण में खोया ,
ममता के कच्चे धागे में बँध फिर जीवन अपनाया !

सानन्द गा रही थी पर्वत-पिक तरु पर
पर्वत पर से आते उत्तर प्रत्युत्तर ,
भू-मुग्ध हुआ मैं, पर्वत ने जीवन-संगीत सुनाया !

देखी फिर कत्यूरी उपत्यका सुन्दर ,
जीवन-मरु में आ लेटे सौ सौ निर्झर ,
फिर बीते पर सीधा सादा मैदानी मन शरमाया !

मेरे साथी

औरों से तो अच्छे ही हैं।
पर उतने अच्छे नहीं---
आह, जितने अच्छे मैं समझे था
—मेरे साथी !

छाँटो तुम कितना ही चुन चुन ,
हैं सब में बहुतेरे औगुन !

पर क्या यह दोषी स्वार्थ नहीं
जो भाता मुझे यथार्थ नहीं ?
जीवन की सच्ची भूख नहीं
दिखता मुझको दाने में घुन !
काहिल को चुभते हैं गद्दे
सौ बार रुई लो चाहे धुन !

या मेरा आहत अहंकार ,
खिझिया जाता जो बार बार ,
जब अपने निष्फल सपनों को
आखिर उधेड़ता हूँ बुन बुन ?
छाँटो तुम कितना ही चुन चुन
हैं सब में बहुतेरे औगुन !

पर ये उतने अच्छे न सही,
जितने अच्छे मैं समझे था,
औरों से—हाँ, अच्छे-अच्छों से
अच्छे हैं मेरे साथी!

आज

आज मरी मिट्टी के कन भी
जाग रहे बन चिनगारी,
मैंने ही क्यों आज नियति के
सन्मुख यों हिम्मत हारी ?

दूर अग्नि की शिखा लपकती
लिखती-सी कुछ नभ-पट पर,
नवयुग आया, और चाहता मैं
जाना पथ से हट कर !

मेरे मन की कमज़ोरी यह,
मेरे मन की लाचारी !

इतना ओछा हूँ मैं—छिन में
कर लेता हूँ मन छोटा !
ओखा हूँ मैं—और नहीं तो
कहता क्यों जग को खोटा ?

आह न जुंबिश खाने देती
मेरे मन की बीमारी !

बुझा हुआ दीपक ले कर में
फिरता हूँ बाहर-भीतर,
अंधकार में पा न सका कुछ
देख फिरा धरती-अंबर!

क्या जाने यह कभी कटेगी भी
मेरी निशि अँधियारी?

जिसके आगे शीश झुकाया,
उसने मुझे सदा ठुकराया;
मुझ तक जो शरणागत आया
उसे न मैंने ही अपनाया;

मुझे तौलना कभी न आया,
बना प्रेम का व्यापारी!

पाने की आशा में मैंने
अपनी भी सब निधि खोई;
अहंकार से पोषित मेरी बुद्धि
ठगे शिशु-सी रोई,

पग पग पर ठोकर खाती जब
मनोकामना बेचारी!

किन्तु जब कि जलता हो अम्बर,
दहक रही हो जब धरती,
यह छोटी-सी जान बड़ी बन
क्यों अहरह आहें भरती?

आज अग्नि के अंकमिलन की
कर न सकूँ क्यों तैयारी?

नृत्य-निरत लपटों के पहने
ताज, जल रहीं मीनारें;
ढहते दुर्ग, तड़कते गुम्बद,
भूमि चूमती दीवारें!

छोटे मुँह हो बड़ी बात
जो कहूँ—'आज मेरी बारी!'

नव युग का संकेत—लपट को
नभ में हाथ हिलाने दो!
शस्यश्यामला वसुंधरा को
चोट लपट की खाने दो!

तप कर ही सच्चे निकलेंगे
हम जैसे भी संसारी!

जीवन को तो आज अग्नि की
लपटों का ही गहना है,
मिटने में ही बनना है अब,
सहना है सो सहना है,

सृजनतत्व बन कर निकलेगा
तत्व आज का संहारी!
मैंने ही क्यों आज नियति के
सन्मुख यों हिम्मत हारी?

युग और मैं

उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ,
मन, मेरी ही बस्ती क्या!
धब्बों से मिट रहे देश जब
तो मेरी ही हस्ती क्या!

बरस रहे अंगार गगन से,
धरती लपटें उगल रही,
निगल रही जब मौत सभी को,
अपनी ही क्या जाय कही?

दुनिया भर की दुखद कथा है,
मेरी ही क्या करुण कथा!
उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ,
मन, मेरी ही बस्ती क्या!

जाने कब तक घाव भरेंगे
इस घायल मानवता के?
जाने कब तक सच्चे होंगे
सपने सब की समता के?

सब दुनिया पर व्यथा पड़ी है,
मेरी ही क्या बड़ी व्यथा!

छूट रहे हैं धुंधले तारे,
होते रहते उल्कापात,
इस्पाती नभ पर लिखते जो
जग के बुरे भाग्य की बात!

जहाँ सब कहीं बरबादी हो
वहाँ हमारी शादी क्या!

रीतबदल है त्योहारों में
घर फुकते दीवाली से,
फाग ख़ून की, है गुलाल भी
लाल लहू की लाली से!

दुनिया भर में ख़ूनख़राबी,
आँख लहू रोई तो क्या!

आग और लोहे को जिसने
किया और रक्खा बस में,
सब जीवों के ऊपर वह मनु
आज स्वयं उनके बस में!

आज धराशायी है मानव,
गिरा नज़र से मैं—तो क्या!

बदल रहे सब नियम-क़ायदे ,
देखें दुनिया कब बदले !—
मानव ने नवयुग माँगा है
अपने लोहू के बदले !

बदले का बर्त्ताव न बदला ,
तुम बदले तो रोना क्या !

रक्त - स्वेद से सींच मनुज
जो नई बेल था रहा उगा ,
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी
लाल सितारा फूल लगा ,

उस अंकुर पर घात लगी तो
मेरे आघातों का क्या !

खौल रहे हैं सात समंदर ,
डूबी जाती है दुनिया ;
ज्ञान थाह लेता था जिससे
ग़र्क़ हो रही वह गुनिया !

डूब रही हो सब दुनिया जब
मुझे डुबाता ग़म—तो क्या !

हाथ बने किस लिए ? करेंगे
भू पर मनुज स्वर्ग निर्माण !
बुद्धि हुई किस लिए ? कि डाले
मानव जग जड़ता में प्राण !

आज हुआ सबका उलटा रुख,
मेरा उलटा पासा क्या !

मानव को ईश्वर बनना था—
निखिल सृष्टि वश में लानी,
काम अधूरा छोड़ कर रहा
आत्मघात मानव ज्ञानी !

सब झूठे हो गए निशाने,
तुम मुझसे छूटे—तो क्या !

एक दूसरे का अभिभव कर,
रचने एक नए भव को,
है संघर्षनिरत मानव अब
फूँक जगतगत वैभव को;

तहस-नहस हो रहा विश्व तो
मेरा अपना आपा क्या !

युग और मैं

युग-परिवर्तन के इस युग का
मूल्य चुकाना ही होगा ,
उसका सच ईमान नहीं है ,
आज न जिसने दुख भोगा !

दुनिया की मधुबनी सूखती ,
मन, मेरी गुलदस्ता क्या !

ओ मेरी मनबसी कामना !
अब मत रो, चुपकी हो जा !
ओ फूलों से सजी वासना !
कुश के आसन पर सो जा !

टूट - फूट दुनिया कराहती ,
मेरे सुख - सपने ही क्या !
उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ ,
मन, मेरी ही बस्ती क्या !

हिरना-हिरनी

एक था हिरना, एक थी हिरनी !

हिरना था वह प्रेमी पागल,
फिरता था वह जंगल जंगल ;
बतलाऊँ हिरनी कैसी थी ?—
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल !

दूर दूर फिरती रहती थी—
जैसे फिरती फिरे फिरकनी !
एक था हिरना, एक थी हिरनी !

देखी धरती—सूखी गीली,
ऊँची नीची औ पथरीली,
(छाँह न तिनके की)—रेतीली !
देखे हरे-भरे वन-पर्वत,
देखीं झीलें नीली नीली !

साँझ-सुबह देखीं बनी-ठनी,
देखी सुंदर रात चाँदनी,
अँधियारे में हीर की कनी !
देखा दिन का जलता भाला,
और रात—चंदन की टहनी !

हिरना-हिरनी

देखे कहीं कूजते मोर—
(प्रेमी को प्यारा वह शोर !)—
नाच रहे सुख से निशि-भोर ,
नाच नाच कर पास बुलाते
मेघ रहे अग-जग को बोर !

आई गई और फिर आई ,
हिरनी फिर भी हाथ न आई ,
हिरने की चकफेरी आई !
मिली न वह सोने की हिरनी
देशदुनी की ख़ाक छनाई !

आया एक सामने दलदल ,
फँसी जहाँ जा हिरनी चंचल ,
दुख से, प्यारी आँखें छल छल !
हिरना प्यारा दुख का मारा
दूर पड़ा था गिर मुँह के बल !

थे हिरना के व्याकुल प्राण—
जैसे चुभें व्याध के बाण !
हिरनी कहती—सुनो सुजान !
दूर दूर भागी फिरती थी
तुमको अपना हिरना जान !

बन में आया शेर शिकारी,
भूख बुझाने का अधिकारी,
कहता था—अब मेरी बारी!
देख हिरन-हिरनी की जोड़ी
हँसी क्रूर आँखें हत्यारी!

देख शेर के मन में आया—
मैंने इनको खूब मिलाया;
बहुत मृगी ने खेल खिलाया,
(जिए दूर, मिल गए मौत में)—
हिरने ने हिरनी को पाया!

एक था हिरना, एक थी हिरनी,
हिरना था वह प्रेमी पागल,
फिरता था वह जंगल जंगल,
बतलाऊँ हिरनी कैसी थी?—
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल!

दूर दूर फिरती रहती थी—
जैसे फिरती फिरे फिरकनी!
एक था हिरना, एक थी हिरनी!

छायाछल

तट कहता तटनी से—' देखो
तनिक ठहर जाओ जो पल भर,
एक बार बस तुम्हें प्यार से
लूँ अपने आलिङ्गन में भर!'

पर तट जितना उसे घेरता
गति उतनी ही तीव्र नदी की,
पग पग पर रोका, आखिर वह
छिपी जलधि में और न दीखी!

यही हाल मेरा भी, चाहा—
सुख को लूँ मैं चूम एक पल,
पर सुख मुझको छोड़ अकेला
कह जाता—' मैं तो छायाछल!'

चुनौती

हाँ, कस कस कर कर प्रहार
मैं हँस हँस बारम्बार सहूँ !

बने सरल—जितना ही चाहा,
उतना ही उलझा यह जीवन !
चाहा जितना ही—समझाऊँ,
उतना ही भरमाया है मन !

तू मनचाही करे, नियति, तो
मैं अपबीती बात कहूँ !

छाया - छवि ने मोह बढ़ाया,
प्रेमी बन अपनाना चाहा;
पर जब मैंने हाथ बढ़ाया
छवि ने, हाय, छीन ली छाया !

अस्थि - कुलिश से जो कठोर
उस सत् की अब मैं बाँह गहूँ !

चुनौती

जल पर किरणनृत्य-से अस्थिर
दिवास्वप्न से नाता तोड़ा,
व्योम-यवनिका फाड़ फेंक दी,
अचिर कल्पना से मुँह मोड़ा!

नींव हिला, तू भित्ति तोड़ दे—
खँडहर हूँ मैं, सहज ढहूँ!

अन्तर्द्वन्द्व, द्वन्द्व बाहर भी,
पर इसके बिन शान्ति कहाँ अब?
दे जो मुझे शक्ति ठुकरा कर,
होगी मेरी भक्ति वहाँ अब!

मैं जो जीवन का अभिलाषी
नित अक्षत विश्वास रहूँ!

नव आभास

(१)

चीर कारा की सघन प्राचीर
किरन आई—ज्योति का ज्यों तीर !
चीर कारा की बधिर प्राचीर
ध्वनि सुनाई दी—बजे मंजीर !
किरण - शर ने बेध डाली तिमिर की प्राचीर ,
नाद गूँजा है हृदय में अर्थगुण - गंभीर !

(२)

दृगों ने देखा तिमिर के पार—
मैं स्वयम् ढोता रहा निज भार !
युगल कर्णों में हुई झंकार—
सहा मैंने स्वयम् अत्याचार !
थे प्रयोजन मात्र, जिनको समझ कर आधार
नाच नाचा किया छायावत् विवश लाचार !

(३)

और भी दीखा प्रकाश विशेष ,
और भी कुछ सुना था संदेश !
दिखाऊँगा ज्योति का वह देश ,
बताऊँगा कथा जो अवशेष !

तोड़ उर - कारा, मलिन निज फेंकता हूँ वेश !
किरण ज्यों हिम-बिन्दु—मैं निज सोख लूँगा क्लेश !

आज रात

(गीत)

जैसी यह तारोंभरी रात ,
मैं वैसा ही आपुलक गात !

मैं जाने क्यों यों पुलकाकुल ?
खिल रहे भाव विभ्रम-संकुल !
लद गया मुकुल के भार बकुल ,
आती अनजानी चारवात !

होने को कारा मुक्तद्वार ,
करने को मन - पंछी विहार ,
हिल रहा गगन में विजयहार ,
आने को नव मधु का प्रभात !

तम की आहुति देकर प्रकाश
पाया दे आँसूजल सुहास ,
जीवन न मृत्यु का बना ग्रास—
वह नहीं, अरे मन, तुच्छ बात !

आज रात

था जाने किसका छिपा हाथ ?
है जाने मेरे कौन पास ?
कोई भी स्नेही नहीं साथ,
पर कितना खुश हूँ आज रात !

है बीज, वृक्ष में कौन सत्य ?
कह पुष्प सत्य ? क्या फल असत्य ?
यह सब अनित्य, पर क्या न सत्य ?
जीवन की यह सत्ता न स्यात् !

वह था, है भी, होगा निश्चय,
जीवन की सत्ता हुई न क्षय !
मैं क्यों न सत्य को वरूँ अभय,
चाहे पथ रोकें सिन्धु सात !

ढह गईं बहुत-सी आस्थाएँ,
बदली हैं बहुत अवस्थाएँ,
अब ढाल नई तू संस्थाएँ,
जिनमें जागे नव अप्रज्ञात !

निदान

नहीं पनपते आज कल्पना के कोमल अंकुर !
शब्द वही पर अर्थ नहीं वह, बदली परिभाषा ;
आर्त्तनाद करती अभिलाषा, मूक बनी आशा ;
तारकचुम्बी सौध-धाम स्वप्नों के क्षणभंगुर !

प्रस्तर थे वाचाल—नहीं अब मुरली में भी सुर !
सड़ा अचल जल और पड़ी मृतप्राय पवनश्वासा ,
इन्दु डालता डोर, नहीं लहराती अभिलाषा ;
नहीं बेधती दृष्टि भविष्यत्, यद्यपि मिलनातुर !

कवि ! बोलो, क्यों हुआ आज यह परिवर्तन असमय ?
तारों-भरी वही रातें, क्यों ख़ाली ख़ाली मन ?
बैठा काला साँप अमंगल, आसन बना हृदय—
अंधे बालक-सा क्यों अहि से खेल रहा यौवन ?—
जीवन की ज्योत्स्ना पर क्यों श्यामल निशान छाया ?
वस्तुसत्य को छोड़ चूँकि सपनों को अपनाया !

द्वादशी का इन्दु

अमिय के मणिपात्र-सा यह द्वादशी का इन्दु,
क्या न हिय में ढाल देगा अमिय के दो बिन्दु ?
शून्य है मेरा हृदय भी, शून्य ज्यों आकाश,
क्या न नभ-सा बनेगा मन चाँदनी का सिन्धु ?

क्यों न जाने शून्य उर में विकल फिर उच्छ्वास ?—
व्योम में ज्यों डोलता यह फाल्गुनी वातास !
अमिय के मणिपात्र-सा है द्वादशी का चाँद,
रिक्त है मधुपात्र-सा उर शून्य ज्यों आकाश !

पूर्णता की ओर उन्मुख शुक्लपाखी चाँद,
क्षिप्रपाँखी हृदय ने भी तोड़ डाला बाँध !
शमित बाधा-बाँध पदतल, विन्ध्य ज्यों नतशीश,
और मैं बढ़ चला हूँ गिरि और गह्वर फाँद !

पूर्ण भी हो जायगा यह हृदय खंडित पात्र,
अमृत-दीपक-से खिलेंगे प्राण-मन औ' गात्र !

मनुज-पुष्प

टुकुर टुकुर नभ में निहारते तारों से ही पूछो तुम—
अखिल भुवन के उपवन में है सर्वोत्तम वह कौन कुसुम ?
मानव उसका नाम, फूल वह खिला प्राण की डालों पर ,
सुरभित सुरँग पँखुरियाँ जिसकी हैं मानवप्राणी हम तुम !

किन्तु क्रोड़ में पुष्पश्रेष्ठ के बसा एक लघु कृमि भी है,
जिसने कई बार फुलवारी की फुलवारी डस ली है !
पर यह ऐसा फूल कि फिर फिर धूलि निगल जी उठता है ,
सब भूतों ने महामहिम मानव को वह प्रतिभा दी है !

उस प्रतिभा का नाम चेतना, वही सुरभि इस चम्पक की !
सुरभि सिन्धुवत्, किन्तु बुद्धि कणिकावत् अणुवत् सम्यक् भी ।
दल पर दल खुलते प्रसून के कहीं सुरभि का अन्त नहीं—
किन्तु एक दिन बुद्धि गहेगी सुरभि-चेतना तह तक की !

पूर्ण मनुज जब जीत प्रकृति आगे को पाँव बढ़ाएगा ,
कैसे कह दूँ स्वल्पज्ञान—किस मंज़िल तक वह जाएगा ?

संकल्प

अग्नि का कर आचमन संकल्प कर, मानव—
तर अनल के सिन्धु भी बढ़ता चलेगा तू !
तू नहीं वह चीज़ जो जल ख़ाक हो जाए—
नित्य निखरेगा, मनुज, जितना जलेगा तू !

मिस्र चीन सुमेरु बाबुल, बुलबुले तेरे—
सभ्यता के स्रोत, मनु ! कैसे रुकेगा तू ?
झुका तेरे सामने था वृद्ध विन्ध्याचल—
विघ्न-बाधा देख अब कैसे झुकेगा तू ?

बहुत-सी मंज़िल हुई हैं पार, देखे
बहुत-से बटमार, फिर उनसे लड़ेगा तू !
चेतना हो मूर्त तुझमें सँवरने आई—
क्या न मिट्टी से कनक-प्रतिमा घड़ेगा तू ?

यहाँ कौन अयुद्ध है ? कटिबद्ध हो, मानव !
अब मनुज ही देव तेरा, मनुज ही दानव !

संकट-काल

जितने वज्र धँसें, उतना ही वक्ष सुदृढ़ सुविशाल बने !
अधिकाधिक सोहे, जो शोणित-श्रमसीकर से भाल सने !
वह भी कैसा मनुज, न उलझाले जो झंझा केशों में,
सह प्रहार फिर मेरुदंड जिसका न और से और तने ?

तेजपुंज की जिह्वाओं-सी लपटें देशों-देशों में
घोषित करतीं, आए जो भी चाहे जल इन क्लेशों में
सजल स्वर्ण बन जाय, काल इतिहास लिखे जिससे अक्षर !
अब न रहेगा मानव बँट कर, छिप कर भाषा-वेशों में !

अपलक आज समय—सदियाँ शत मौन साध तकतीं निर्भर,
टकराते इस्पाती तट दो—मानवता बह जाय किधर !
सृति में भी गति—भय है उलटी बहे न गंगा की धारा,
रोक प्रगतिरथ भागीरथ का, रुप न जायँ पथ में पत्थर !

रोप रहे पथ में पत्थर जो, बना रहे तुमको कारा—
बनो आज तूफ़ान कि बाधा-बाँध फाँद चल दे धारा !

साँझ का संदेश

नतमस्तक हो सूर्य रोकता राह, और ऊँचा चढ़ तू !
तिमिराञ्चल में छिपा थका पथ, किन्तु और आगे बढ़ तू !
एकाकी है तू, पर कैसा एकाकी मानवप्राणी ?
तेरी उर-कम्पन में स्पंदित सदियाँ जानी-अनजानी !
एक बूँद शोणित की तेरे—चिनगारी उस ज्वाला की,
जिस ज्वाला से दीपित मनु की जाति, विपुल मणिमाला सी !
देश-राष्ट्र, भाषाएँ जिनकी अनगिनती तरु-पातों सी,
हुए एक तेरे तन-मन में—और न सागर सातों भी
विलग उन्हें कर सकते तुझसे—फिर तू कैसा एकाकी ?
इससे वंचित कर न सकेगा तुझे भाग्य का लेखा भी !

निरुद्देश्य बहती बयार, पर तुझको उसकी होड़ नहीं !
बँधे पाँव ये खड़े पेड़, पर तेरा उनका जोड़ नहीं !
द्युति दिन की, विद्युत् खग- पाँखों की खोई, आगे बढ़ तू !
उतरे चाँद-सितारे जल में, पर ऊँचा-ऊँचा चढ़ तू !

मनु के सपूत

जिस दिन, मनु, तुमने कहा—पालतू पशु-सा रहना इष्ट नहीं ,
तुम छोड़ अदन–उद्यान बसाने निकले अपनी सृष्टि कहीं ,
उस आदिम युग से आज तलक यों तो अनगिनती कष्ट सहे—
पर आँखों के सन्मुख देखा था ऐसा घोर अनिष्ट नहीं !

आदिम युग में भी वसुन्धरा का हुआ कभी था जल-प्लावन ,
पर वसुन्धरा कंदुक थी तब, देवों के हित क्रीड़ा-साधन !
उस आदिम युग से आज तलक बीती हैं सदियों पर सदियाँ
जब आज मनुज ने बना लिया नवयुग का सिंहद्वार पावन !

नवयुग का सिंहद्वार पावन ! जिसके भीतर नव साम्यस्वर्ग !
नव साम्यवर्ग ! जिसमें खोए, हैं हुए एक शत मनुज-वर्ग !
वह सिंहद्वार, जिसके भीतर है सजा आज ऐसा समाज ,
कल्पना देखती थी सपना जिसका, जिसका सेवक निसर्ग !

मनु के सपूत ! तुम मनुज-स्वर्ग के निर्माता हो, रक्षक हो !
इस सिंहद्वार की रक्षा का रण अंतिम, रण में हार न हो !

सावन की साँझ

सान्ध्य गगन की छाया जल पर फैली हलकी हलकी,
बीते की चित्रित सुधि ज्यों मेरे मानस में झलकी !
यह पावस की साँझ, गगन नौरंगी, भू हरियाली—
ऐसे में क्यों मुझे याद आयेगी बीते कल की !

लहराती है भरी झील, पर भर न आय मम अन्तर,
लघु लहरों में कहीं न फिर से जाग उठे मन पल भर !
पर क्या इस सूनेपन में तट के तरु-सा सो जाऊँ ?
एकाकीपन से डर, जड़ता को लूँ यों कैसे वर !

कैसी ओछी बात ! आज भी, मन, तू सुखदुख-कातर,
सुख-दुख की परिभाषा ही जब बदल रही घर-बाहर !
माना, संध्या के रंगों में लिखी हुई है गाथा,
पर मलीन रंगों में फिर रवि रंग भरेगा आकर !

देश-काल दिनमान, अस्तमित रवि प्रतीक बन युग का—
सूर्य कनक का मोती, जिसको समय-हंस नित चुगता !
दिनमणि डूबा, डूबे दिन-सा डूब रहा है युग भी—
मनुज बीज जो विकसित युग युग, डूब डूब फिर उगता !

सान्ध्य गगन की छाया भी छिप गई, तारिका झलकी—
फिर वह भी छिप गई, जलद-पट में ज्यों शफरी जल की !
तिमिराच्छन्न मेघमय यम-से भीम गगन के भीतर
भावी की स्मित चितवन-सी मुसकान दामिनी छलकी !

वर्षा-श्री

वह बैठी भरी जवानी में वर्षा-श्री तरु की डाली में ,
कैसी सुन्दर लगती लाली खपरैलों की, हरियाली में !
वह दूर दीखता खेत धान का, काँप रहे छवि के अंकुर ,
बक शुक्लपंख ज्यों श्वेत शंख, शोभित मरकत की थाली में !

कुछ और दूर, चमचम करती चादर चाँदी की थर थर थर ,
सारस की जोड़ी डाक रही—प्रतिध्वनि-कम्पित समीर-सागर !
जीवन की गति-सी ट्रेन चली जाती, आँखें हैं निर्निमेष—
जी करता है घंटों देखूँ यह वर्षा-श्री मन भर भर कर !

किन चलचित्रों की परछाईं धरती पर अंकित होती है ?
वर्षा-श्री का यह बाग़, बीज थी बूँद धूल में सोती है !
आषाढ़ मास की बूँद मुक्त मोती-सी बरसी थी नभ से ,
पर मानव की ही आँख आज निरुपाय लहू क्यों रोती है ?

तप रहा तवे-सा विश्व, बूँद लोहे की खो देती लाली ;
मानव का आतपकाल, दूर है वर्षा-श्री की हरियाली !
बीतेगा आपतकाल किन्तु, शोणित की बूँद नहीं निष्फल—
मानव की वसुधा भरी-पुरी होगी ज्यों मरकत की थाली !

रात और प्रभात

अपनी छाया को देख भूँकते कुत्तों के रथ में बैठी
फिरती निशीथिनी ओर-पास,
ज्यों परिक्रमा कर रही लुप्त तम के पुर की !
पर तिमिर तोम के दुर्ग-व्योम में
घोषित श्वानों का सुर ही ?
हैं पीछे लश्कर के शृगाल,
सिर उठा, व्योम की ओर देख
जो बजा रहे मुँह से तुरही !

नासिका-रंध्र ही देख सकें जिसको,
ऐसा है धूम्र-चीर—
फैला दिगन्त में आर-पार ;
सुलगा कर अवा कदाचित् थक कर सोए बेफ़िक्रे कुम्हार !

हैं दबे पाँव जा रहे चोर
औ क़स्बे को नीचे दबोच, चढ़ छाती पर
बैठा पहाड़—चोरों का साथी अंधकार !
सब कहीं दीखता अंधकार ही अंधकार—
छुट्टा छूटा भैंसा बिजार !

रात और प्रभात

मैले गूदड़ के टुकड़ों से
उड़ उड़ घन घिरते व्योम बीच ,
बरसे भी शायद नहीं—गगन के गलियारे में हुई कीच !

था आसमान कुछ क्षण पहले
ज्यों उलटी इस्पाती परात ,
काली बदली से घिर दिखता, जैसे
परात को भीतर से—
कालिख ले काले जूने से—
मलता कहार का सधा हाथ !

लो पलक झपीं ! फिर खुलीं आँख !
पौ फटी, कमल की खुलीं पाँख !
पारस-पथरी से छुआ—
हुआ सब सोना-सोना आसमान !

बरसे छवि के सब ओर तीर ,
घन बने लहरिया कनक-चीर ,
सूरज की कोर लगी दिखने हो जैसे सोने की कमान !

कालिख की कोख चीरती-सी
शमशीर—हिलोर नीर की-सी
लहराई, ललकी लपक लहक—
काञ्चन चपला-सी—छोड़ म्यान !

मिट्टी और फूल

वह रात
और यह है प्रभात !
वह लोहे की परात जैसी
यह सोने की थाली—प्रभात !

नवमी की चाँदनी

चाँदनी ऐसी खिली जैसे तुम्हारा हास-
स्वस्थ सुंदर हास, वह निर्मल मनोरम हास !
जानता हूँ, तुम जहाँ भी हो वहाँ भी इन्दु
सहस अनदेखे करों से रहस हँस रस-विन्दु
सहज बरसा रहा सरसा रहा छवि के सिन्धु !
क्यों न ख़ुश हूँ, नहीं हूँ यद्यपि तुम्हारे पास ?
चाँदनी ऐसी खिली जैसे तुम्हारा हास !

शशि न चिपका एक कन से, वह नहीं मतिमंद !
ग्रंथि मेरी भी खुली, उन्मुक्त जीवन-छंद ,
भूल उर के शूल, मैं नभ-फूल-सा सानंद !

अब सफ़ेद गुलाब-सा उर में नया आभास !
चाँदनी ऐसी खिली जैसे तुम्हारा हास !

द्वन्द्व के है पार जो मेरा तुम्हारा स्नेह ,
क्या न ऐसा ही परस से परे यह विधु-मेह ?
प्राण-मन शीतल, सुशीतल स्वस्थ सुस्थिर देह !
सब कहीं रस बरसता, क्यों हो मुझे रस-प्यास ?
चाँदनी ऐसी खिली जैसे तुम्हारा हास !

एक नारी के प्रति

बाहुओं के प्रतनु दो पतवार अब मैं छोड़ता हूँ,
छोड़ता हूँ तट, तरी मझधार मैं अब छोड़ता हूँ!
आज मैं मुँह मोड़ता हूँ प्रेम की अलकापुरी से
केश-श्वासों की सुरभि दृग-देश श्यामल छोड़ता हूँ!

कामिनी की कामना? वह कर चुका हूँ पार मंज़िल,
बहुत ललचाए रही मन काञ्चना की ज्योति झिलमिल!
स्वप्न की संप्राप्ति खोई, दिवा अब नवरूप जागी—
नया मनहर रूप निखरा आ रहा स्वर्णाभ-सा खिल!

पौ फटी, फटती यवनिका मोहमाया-यामिनी की;
फटी मेरी राह, मन से हटी मूरत कामिनी की!
प्रगति-पथ पर किरण छिटकाती चली वह मुक्तहासिनि—
वह नहीं, पर्यंक, पिय की अंक की जो शायिनी थी!

तुम नहीं हो भोग की ही वस्तु मुझको, अस्तु तुम से
भीख मधु की माँगता मन भी नहीं अलि ज्यों कुसुम से!
चाटुकारी से रिझाना—हुई अवहेला तुम्हारी, सुनो नारी,
करूँ अभिनन्दन तुम्हारा मौन अब बिन कहे तुम से!

आज तक तुम फूल, तितली गीति थी—वह छोड़ता हूँ!
प्रीति, कविकृत प्रेयसी की प्रीति थी—वह छोड़ता हूँ!
विश्व मधु का कुंड था, मन तरी, थे पतवार भुज द्वय—
सुनो, नारी! निरादर की रीति थी, वह छोड़ता हूँ!

मुक्त धारा

छोड़ मेरी हृदय-कारा
बह चली यह मुक्त धारा !
दौड़ता पीछे किनारा ,
बह चली यह मुक्त धारा !

मैं स्वयं पथ रोक हारा ,
रोक हारा लोभ सारा ;
दिशायें हँस हँस बुलातीं,
बुलाती नभ बीच तारा ;

किन्तु पीछे छोड़ सब को
बह चली यह मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा
बह चली यह मुक्त धारा !

ध्येय अब तो और ही कुछ,
गेय अब तो और ही कुछ,
मत बुलाओ पास कोई
प्रेय अब तो और ही कुछ !

अंक में भरने अवनि-नभ
बढ़ी मेरी मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा
बह चली यह मुक्त धारा !

हृदय भी संकीर्ण-सा था,
विश्व जर्जर जीर्ण-सा था,
दृगों की खिलवाड़ वाला व्योम-
अंचल शीर्ण-सा था !

दृष्टि बदली, विश्व बदला
और चल दी मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा
बह चली यह मुक्त धारा !

यह न टोके से रुकेगी,
जिधर चाहेगी झुकेगी,
घाव-से भरते अभावों
में न भीषण दव फुकेगी ,

एक घर-बाहर करेगी,
बहेगी यह मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा
बह चली यह मुक्त धारा !

OUP—11—21-1-56—10,000.

کتب خانہ

جامعہ عثمانیہ

۱۔ اراکین مجلس اعلیٰ، مجلس رفقا، مجلس انتظامی، مجالس شعبہ جات، نصاب پانچ کتابیں ایک ماہ تک اپنے پاس رکھ سکینگے۔

۲۔ اساتذہ جامعہ عثمانیہ و کلیہ جات ملحقہ و گزیٹڈ عہدہ داران جامعہ اور اراکین دار الترجمہ دس کتابیں ایک ماہ تک اپنے پاس رکھ سکینگے۔

۳۔ لیسانسین رجسٹر شدہ دو کتابیں، بی۔ اے۔ اور انٹرمیڈیٹ کے طلبہ تین کتابیں، ایم۔ اے، ال ال بی و تحقیقاتی جماعتوں کے طلبہ پانچ کتابیں دو ہفتہ تک اپنے پاس رکھ سکینگے۔

۴۔ مدت مقررہ پر کتابیں واپس نہ ہوں تو طلبہ سے بحساب ایک آنہ یومیہ فی کتاب جرمانہ لیا جائیگا۔

۵۔ بشرط موقع کتابیں گھر پر جاری کی جاسکینگی مگر غرض کے لئے کتب خانہ میں کتاب کا لانا لازم ہے۔

۶۔ کتابیں گم یا خراب ہو جائیں تو مستعیر پر ذمہ داری گی۔

۷۔ کتابوں پر کسی قسم کا نشان سیاہی یا پنسل سے لگایا جائے۔

۸۔ قلمی نسخے اور حوالے کی کتابیں جاری نہ کی جاسکینگی۔